राजारानी

लेखक—

महाकवि श्री रविन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक—

स्व० मुरारीदास अग्रवाल हेडमास्टर

चौधरी एन्ड सन्स
पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक
बनारस सिटी

प्रथम संस्करण — मूल्य १)

दो शब्द

1350

वंगला साहित्य में रवि बाबू के 'राजोरानी' नाटक का जो स्थान है, वह वंगभाषा-भाषियो से छिपा नहीं है। बहुत दिनो से हमारी इच्छा थी कि रवि बाबू की इस उत्कृष्ट रचना का रसास्वादन बँगला भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी-भाषी जनता को भी कराया जाय। हमारी यह अभिलाषा आज पूरी हुई। इससे बढ़कर हमारे लिये आनन्द की दूसरी बात हो नहीं सकती। यदि हिन्दी-जगत इसका यथोचित आदर कर अपने को लाभान्वित कर सका, तो हमारा यह आनन्द और भी बढ़ जायगा। हमें यथेष्ट उत्साह मिलेगा।

अनुवाद की पांडुलिपि हमारे पास बहुत दिनो से रखी थी। अनेक कारणो से इसके छपने में इतनी देर हुई। इसका हमें खेद है। बँगला के गानो का हिन्दी में पद्यानुवाद करना बहुत ही कठिन है। हमने इस संबंध मे सफलता प्राप्त करने की बडी चेष्टा की, पर पूरी सफलता मिल न सकी। अगले संस्करण में हम कुल गानो का हिन्दी पद्यो में सफलता-पूर्वक अनुवाद कराने की पूरी कोशिश करेंगे। पुस्तक बहुत जल्दी में छपी है। इससे प्रेस-संबन्धी कुछ भूलो का रह जाना संभव है। आगामी संस्करण में ऐसी भूलो का भी सुधार कर दिया जायगा।

प्रकाशक

नाटक के पात्र

पुरुष

विक्रमदेव—जालन्धर के राजा

देवदत्त—राजा के बाल्य-सखा

जयसेन
युधाजित } —राज्य के प्रधान नायक

त्रिवेदी—वृद्ध ब्राह्मण

मिहिरगुप्त—जयसेन के अमात्य

चन्द्रसेन—काश्मीर के राजा

कुमारसेन—काश्मीर के युवराज, चन्द्रसेन के भाई के लड़के

शंकर—कुमार का पुराना वृद्ध स्वामी भक्त सेवक

अमरूराज—त्रिचूड़ के राजा

स्त्री

सुमित्रा—जालन्धर की रानी कुमारसेन की बहन

नारायणी—देवदत्त की स्त्री

रेवती—चन्द्रसेन की स्त्री काश्मीर की रानी

इला—अमरूराजा की कन्या। कुमारसेन की वाक्यदत्ता स्त्री

भील, रामचरण आदि आदि

प्रस्तावना

रवीन्द्र बाबू इस युग की एक विभूति हैं। साहित्य ही में नहीं, विश्व-साहित्य में भी उनका एक खास स्थान है। वह एक साथ ही कवि, दार्शनिक और ऋषि हैं। शब्द और भाव में यथार्थ सामञ्जस्य देखने वालो में वह जितने कृत कार्य्य हुए हैं उतना कदाचित् ही इस युग में कोई हुआ हो। कठिन से कठिन दार्शनिक गुत्थियो को उन्होने जिस कवि-सुगम लाघव से सुलझाया है, उसका ध्यान करता हुआ कौन अपने को ऊँचा उठता हुआ नहीं पावेगा। अवश्य ही "कविर्मनिषी परिभूःस्वयम्भूः" का उच्च आदर्श उनके जीवन में दृष्टि गत होता है।

कवीन्द्र ने अभी तक जो कुछ भी हमें दिया है, वह सब उनका अनुभूत भाव-सचय है। मंत्र-दृष्टा ऋषि की तरह उन्होने प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्रा का दिव्य दृष्टि से अनुशीलन किया है। यही कारण है कि उनकी रचनायें आज विश्व भर में मानव-समाज के हृदय पर अधिकार किये हुए हैं-और सच पूछो तो यही कवि-कर्त्तव्यकी सच्ची कसौटी है।

हिन्दी में रवि बाबू के कई उत्कृष्ट ग्रंथो का अनुवाद हो चुका है। उनका आदर भी अच्छा हुआ है। कवीन्द्र के दृश्य काव्य का तो साहित्य-जगत् सदा आभारी रहेगा। उनके कई नाटकों का रसा स्वादन हिन्दी-भाषा-भाषी भी कर चुके हैं। आज हमें "राजारानी" नामक उनके एक और सुन्दर नाटक का दर्शन हुआ है। हिन्दी में ऐसी सुन्दर दृश्य-रचना देखकर हमारा मनोमुकुल क्यों न प्रफुल्ल हो?

यह नाटक अपने ढग का एक है, इसमें सन्देह नहीं। नाटक में सामयिकता के साथ ही स्थायित्व भी है। विचार-लहरी की आरोही-अवरोही देखते ही बनती है। कवि-स्वातंत्र्य

की झलक कुछ निराली ही मिलती है, भले ही कोई उसे कवियो की निरंकुशता कहे ! "सर्वमत्यन्त गर्हितं" का आदर्श सामने रखकर ही प्रस्तुत नाटक की कल्पना गाँधी गयी है। एक का प्रेम की-प्रेम क्या, मोह की-अति से पतन दिखाया गया है, तो दूसरे का लक्ष्यहीन कर्म की अति से सर्व नाश कराया गया है। कवि-सुलभ-स्वातंत्र्य के अधिकार से रवीन्द्र बाबू ने किसी-किसी स्थल पर अति का भी अति रंजन निःसंकोच रीति से किया है, किन्तु हमारी राय में, उनका ऐसा करना नाटक की रोचकता को कम नहीं करता।

नाटक के मुख्यतः चार पात्र उल्लेखनीय है-विक्रम, सुमित्रा, कुमारसेन और इला। विक्रम में लालसा अत्यधिक है। वह विवेक की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उसने उपदेश की ओर से न जाने कब का मुँह फेर लिया है। पहले रूप-पिपासा से तड़पता रहा, पीछे लक्ष्यहीन कर्म-धारा में पंगु की तरह बहने लगा। उसे चाहे जो कठपुतली की तरह नाच नचा सकता है। बेचारा पराधीनता को ही स्वाधीनता समझता है।

जालन्धर-पति जालंधर की रानी सुमित्रा, वास्तव में, एक भारत-रमणी है, वह हृदयेश्वरी होते हुए भी गृह-लक्ष्मी है। प्रेम और मोह रूपी नीर-क्षीर का विवेक करने में साक्षात हंसिनी है। वह सच्ची राजमाता है। स्त्रैन पति से एक स्थल पर वह क्या ही ऊँचा व्यक्त करती है—

"छिः छिः! महाराज, ऐसा प्रेम किस काम को। इस प्रेम ने तो आप के उज्ज्वल प्रताप-रूपी सूर्य्य को मध्याह्न काल में ही आकाश के बादलों की भाँति ढक लिया है। ... मुझे लज्जित न करो, महाराज, राजश्री, की अपेक्षा मुझे अधिक प्यार न करो।"

अन्यत्र-"पुरुषो को दृढ़ तरु की भाँति अपने ही बल प

स्वतंत्र, उन्नत और अटल रहना चाहिये। तभी तो स्त्रियाँ लता की भाँति उनकी शाखाओं में आश्रय पावेंगी। परन्तु यदि पुरुषगण अपना समस्त हृदय स्त्रियों को दे डालेंगे तो हमलोगों का प्रेम कौन ग्रहण करेगा? इस संसार का बोझ कौन उठावेगा। नाथ, पुरुषों को कुछ स्नेहमय, कुछ उदासीन, कुछ मुक्त, लिप्त रहना चाहिये। क्योंकि वृक्ष केवल लताओं का ही आश्रय स्थल नहीं है, वरन् वह सहस्रों पक्षियों का गृह, बटोहियों का विश्राम स्थान, तप्त भूमि के लिये छाया, मेघों का सुहृद और आँधीका प्रतिद्वन्द्वी भी है।

सुमित्रा की प्रजा-भक्ति पर त्रिलोक का भी निछावर कर देना थोड़ा है। वह प्रेम और कर्त्तव्य के संघर्ष को खूब पहचानती है। स्नेह की तो साक्षात् मूर्ति है। वह मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों को ही उज्ज्वल करने वाली है। उसके भ्रातृ-स्नेह का कौन अभागा अनुसरण न करेगा? भारत की अभागिनी जनता सुमित्रा जैसी दिव्य रमणियों के ही आविर्भाव की ओर टक लगाये खड़ी है। धन्य है कवीन्द्रका हृदय, जहां से सुमित्रा की कल्पना का दिव्य उदय हुआ है!

काश्मीर के पितृ-हीन बालक कुमारसेन का नाटक में कम भाग नहीं है। वह सुमित्रा का अनुज और विक्रम का साला है। नाबालिग है। राज्य की देख-रेख उसका चाचा चन्द्रसेन करता है। कुमार बड़ा ही भोला है। उसके हृदय में पवित्र प्रेम, भुजाओं में क्षात्र बल और मस्तिष्क में विवेक-शक्ति है। भाई-बहन की खूब पटती है। दोनों दो तन एक प्राण हैं। वंशकी गौरव-रक्षा का कुमार को सदा ध्यान रहता है। दुष्ट षड़-यंत्रियों के बहकावे में आकर हृदय का अन्धा अतिप्रिय विक्रम काश्मीर पर चढ़ाई करता है। कैकेई की अवतार रेवती के वाक्य-बाणों से विद्ध हो कर कुमार ने पहले ही राजधानी

छोड़ दी है। बेचारा सहोदरी सुमित्रा के साथ राज-भक्त प्रजा की बाहु-छाया में वन-वन भटकता फिरता है। निर्जन वन में भी उसे कल नहीं। प्रजा पर सतत अत्याचार सुनकर अधीर हो कहता है—

" कहो बहिन कहो। मेरे भक्त जो मुझे प्राणो से भी बढ़ कर प्यार करते हैं और जो प्रतिदिन कठोर यन्त्रणा सहकर अपने प्राणो को मेरे लिये निछावर कर रहे हैं, क्या उनके पीछे छिपकर अपने प्राण बचाना मुझे उचित है? क्या यह वास्तव में जीना है मैं अपने जीवन को विसर्जित करूँगा। उसके उपरान्त तुम मेरे कटे हुए सिर को ले जाकर अपने ही हाथो से जालन्धर पति को उपहार देकर कहना कि 'काश्मीर के तुम अतिथि हो इस लिये इतने दिनो से तुम जिसे पाने के लिये इतने व्याकुल हो रहे थे काश्मीर के युवराज ने उसे तुम्हारे पास अतिथि सत्कार के भेट के रूप मे भेजा है'। "

सत्य सकल्प कुमार ने किया भी वही। सहोदर का कटा हुआ सिर लेकर चिरदुःखिनी सुमित्रा पति के सामने आ खड़ी हुई और वह भारत-रमणी भाई का अतिम सन्देश सुना कर चिरकाल के लिये धराशायी हो गयी। क्या भाई-बहन की ऐसी अलौकिक जोडी संसार में कहीं अन्यत्र मिलेगी? हमें तो आशा नहीं।

अभागिनी इला के सम्बन्ध में क्या कहें। त्रिचूड के राजा अमरुराज की वह पुत्री है। कुमारसेनके प्रेम में वह फँस चुकी है। वह प्रेम और केवल प्रेम जानती है। कर्त्तव्य की ओर उसका भी ध्यान नहीं है, पर वह विक्रम की तरह अन्धी नहीं है। उसकी प्रेम-पिपासा बडी ही तीव्र है। एक स्थल पर कर्म-वीर कुमार से कहती है—

"अहा! ऐसा ही हो, सुख की छाया से सुख अच्छा है, पर

यदि सुख हो तो वह भी अच्छा है। मृग-तृष्णा से तृष्णा अच्छी है। कभी मैं सोचती हूँ कि तुमको पाऊँगी, कभी सन्देह होता है कि तुम्हें मैं न पाऊँगी और कभी सन्देह होता है कि मैं तुम्हें खो दूँगी। कभी अकेली बैठी सोचती हूँ कि तुम कहाँ हो क्या कर रहे हो। मेरी कल्पना वन-प्रांत से विकल होकर लौट आती है। वन के बाहर का मार्ग मैं नहीं जानती, इससे मैं तुम्हें खोज नहीं सकती अब मैं तुम्हारे साथ सर्वदा समस्त भुवन में रहूँगी! कोई स्थान अपरिचित नहीं रहेगा। अच्छा बताओ प्रियतम! क्या मैं तुम्हें कभी वश न कर सकूँगी ?"

निरवधि मिलन की आशा बँधा कर कर्त्तव्य पालन करने के लिये कुमार चले गये। भोली इला मिलन-रात्रिका नित्य नूतन स्वप्न देखने लगी। उसे सारा विश्व कुमार-मय दिखाई देता है। इला का पिता एक क्षुद्र संसारी मनुष्य है। वह विक्रम के साथ उसका विवाह करने का निश्चय कर चुका है। पिता की आज्ञा से विरहिणी इला विक्रम के सामने आती है। विक्रम अब भी प्रेम-देवी सुमित्रा को नहीं भूला है। फिर भी कामुकता वश इला के लावण्य पर खिंच जाता है। विक्रम के मुख से कुमार की दुर्दशा का समाचार सुनकर इला अधीर हो रोने लगती है। कुमार के प्रति उसका अलौकिक विशुद्ध प्रेम देखकर विक्रम की भावना एक दम बदल जाती है। प्रेम की काम पर विजय हुई। इला के आँसुवों ने विक्रम की कलुष-कालिमा धो डाली। उसने कुमार का इला के साथ विवाह कराने तथा उसे सिंहासनासीन करने का दृढ निश्चय किया। यहाँ नाटक में युगान्तर उपस्थित हो जाता है। कुमार की तलाश में विक्रम ने चर भेजे, पर होनी तो कुछ और ही थी " हरेरिच्छा बलीयसी "।

अन्त में विक्रम को सुमित्रा मिली, पर वह सुमित्रा नहीं।

कुमार को देखा, पर पश्चात्ताप के धूमिल आवरण द्वारा। चन्द्रसेन की भी आँखें खुलीं, पर वहाँ देखने के लिये कुछ भी नहीं था। इलाको क्या मिला? प्रेमसाम्राज्य में अक्षय मिलन।

संक्षेप में, राजारानी का यही दिग्दर्शन है। हम पुरोहित-दम्पति को भी नहीं भूले हैं, पर दिग्दर्शन में उनकी चर्चा हम नहीं ला सके। समाज और राष्ट्र के लिये कवीन्द्र की यह उत्कृष्ट कल्पना कितनी उपयोगिनी है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

अब अनुवाद के सम्बन्ध में दो चार शब्द लिखकर हम प्रस्तावना समाप्त करते हैं। इस नाटक का अनुवाद सुप्रसिद्ध 'सरस्वती' पत्रिका में भी निकल चुका है। वह अनुवाद भी सरस और सुन्दर है। उसमें हमें केवल एक बात खटकती है। वह है पद्य प्रति पद्य का अतुकान्त प्रयास। हमारी राय में हिन्दी पद्य-जगत् में अभी इस प्रकार की रचना को आदर का स्थान नहीं मिल सकता। अस्तु। प्रस्तुत अनुवाद बहुत कुछ अंशो में संतोष-जनक कहा जा सकता है। अनुवादक महोदय बाबू मुरारिदासजी ने अविकल अनुवाद करने का प्रयास किया है और उसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। गीत हमें संतोष जनक नहीं जँचे। कुछ गीत हमारी धारणा के अपवाद में आ सकते हैं। दो एक स्थल पर लिंग-भेद सम्बन्धी और कहीं कहीं पर भाषा प्रवाह-विषयक त्रुटियाँ रह गयी हैं। इन दो-एक बातो को छोड़कर अनुवाद सुन्दर, सरस और यथार्थ हुआ है। ऐसी ऊँची पुस्तक का अनुवाद करने के लिये हम अनुवादक महोदय को बधाई देते हैं। अलं विद्वत्सु।

काशी
फाल्गुण शुक्ल १४
१९८२ } वियोगी हरि

॥ श्रीः ॥

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

जालन्धर

राजमहल का एक कमरा

विक्रमदेव और देवदत्त

देव—महाराज, आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं?

विक्रम—क्यों, क्या हुआ?

देव—मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया है जिसके कारण आप मुझे पुरोहित बना देना चाहते हैं? मैंने तो न जाने कितने दिन हुए त्रिष्टुप अनुष्टुप छन्द पाठ करना भी छोड़ दिया है, आपके साथ रहकर वेद-मन्त्र का समस्त विधान भी भूल गया हूँ, श्रुति और स्मृति को तो विस्मृतिरूपी जल में कभी का बहा चुका हूँ। भला जब मैं अपने एक मात्र पिता का नाम भी भूल जाता हूँ, तब फिर मैं तैंतिस कोटि देवताओं का नाम कहाँ तक याद रख सकता हूँ। यही कारण है कि देवताओं के अलग अलग नाम न लेकर सबको एक साथ ही नमस्कार कर लेता हूँ। तेजहीन ब्राह्मण के चिह्न-स्वरूप गले में केवल

यज्ञोपवीत विषहीन केंचुली की तरह पडा है । फिर आप मुझे यह दण्ड क्यों दे रहे हैं ?

विक्रम—हाँ सखे, तुम्हारे पास न शास्त्र है न मंत्र, और न ब्राह्मणत्व का कोई बखेडा ही । इसी से तो निर्भय होकर, मैंने तुम्हें पुरोहिताई का भार दिया है ।

देव—इससे तो जान पड़ता है कि आप एक नख-दन्त-हीन पालतू पुरोहित चाहते हैं ।

विक्रम—सखे, यहाँ के राज-पुरोहित क्या हैं मानो ब्रह्म-दैत्य हैं । बारहो मास राजा के माथे बैठकर सुख से भोजन तो करते ही हैं, कभी अनुष्ठान, कभी निषेध, कभी विधि-विधान, कभी अनुयोग, कभी व्यवस्था का एक न एक उत्पात लगाये ही रहते है । हाँ, उनका मुख्य काम है, अनुस्वार और विसर्ग का भयकर आडम्बर दिखाकर दक्षिणा-पूर्ण हाथो से केवल कोरा आशीर्वाद देकर विदा होना ।

देव—महाराज, यदि आप शास्त्रहीन ब्राह्मण को ही पुरोहित बनाना चाहते हैं, तो सबसे अच्छे त्रिवेदीजी हैं, जो बडे ही सीधे-सादे है । रात-दिन जप-पूजा और क्रिया-कर्म में लगे रहते हैं, और सदा माला फेरा करते हैं । हाँ, मंत्र उच्चारण करते समय केवल उन्हें क्रिया और कर्म्म (व्याकरण) का ज्ञान नहीं रहता ।

विक्रम—ऐसे ही मनुष्य बडे भयंकर होते हैं । सखे, जो लोग शास्त्र नहीं जानते, वे शास्त्र का आडम्बर चौगुना रचते हैं । जो वेद और व्याकरण से शून्य है, उन्हें किसी बात की रुकावट नहीं रहती, वे सदा अमर और पाणिनी को पछाडकर आगे बढते रहते हैं । इसलिये एक ही साथ राजा और व्याकरण दोनो का सताना नहीं सहा जाता ।

देव—महाराज, इस समाचार के सुनते ही कि आपने मुझे पुरोहित बनाया है, जितने केशहीन चीकने माथे हैं, आन्दोलित हो उठेंगे । राज्य के अमंगल की आशंका से लोगों के शिखा-सूत्र कण्टकित हो जायगे ।

विक्रम—इसमें अमगल की आशंका क्या है ?

देव—इस गरीब कर्म-काण्डहीन ब्राह्मण के दोष से कुल देवताओं की रोषाग्नि

विक्रम—सखे, रहने दो, इस भय को दूर करो, कुलदेवताओं के रोष को सिर झुकाकर सहने के लिये मैं तैयार हूं, परन्तु कुल-पुरोहितों का घमण्ड सहा नहीं जाता । सखे, प्रचंड धूप सहन की जा सकती है परन्तु तपी हुई रेती नहीं सही जाती । अच्छा, हटाओ इस झूठे तर्क को, आओ कुछ साहित्य-चर्चा करें । हॉ, कल तुमने किसी प्राचीन कवि का एक वाक्य कहा था कि—" स्त्रियों का विश्वास मत करो ! " उसे आज फिर तो एक वार कहो !

देव—" शास्त्र * "

विक्रम—भाई क्षमा करो, इन सब अनुस्वारों को थोड़ी देर के लिये रहने दो !

देव—महाराज, अनुस्वार धनुः शर नहीं हैं, यह तो केवल उसकी टंकार मात्र है । अच्छा, हे वीरपुरुष ! डरो मत, अब मैं भाषा ही में कहता हूँ, सुनो !

> शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय, भूप सुसेवित वश नहिं लेखिय ।
> राखिय नारि यदपि उर माहीं, युवती-शास्त्र-नृपति वश नाहीं ॥
>
> (तुलसीदास)

---

* शास्त्रं सुचिन्तितमथोपरिचिन्तनीया, सेव्योऽपि नृपोपि सततं परिसेव्यनीया । अङ्के स्थितापि युवतीपरिरक्षणीया, शास्त्रे नृपे च युवतौच कुतोवशित्वम् ॥

विक्रम—वश में नहीं हैं ? कवि यह तुम्हारी कैसी ढिठाई है। अरे उन्हें वश करना ही कौन चाहता है ? जो उन्हें वश करना चाहता है वह तो विद्रोही है। कहीं राजा और रमणी भी वश किये जा सकते है ?

देव—ठीक है ! तब क्या पुरुषों को स्त्रियों के वश में रहना होगा ?

विक्रम—रमणी-हृदय का रहस्य कौन जान सकता है ! वह ईश्वरीय नियम (विधि-विधान) की तरह गूढ़ है। इसलिये ईश्वरीय विधान में और स्त्रियों के प्रेम में ही यदि अविश्वास हो तो आश्रय कहाँ मिलेगा ? नदी क्यों बहती है, हवा क्यों चलती है, इसे कौन जानता है ! परन्तु वही नदी देश का कल्याण करती है, और वही हवा प्राणियों का जीवन है।

देव—पर उसी नदी में बाढ़ आती है, उसी वायु से आँधी भी तो उठती है ?

विक्रम—चाहे वह जीवन-दान करे या प्राण-हरण करे हमें उसे शिर झुकाकर सहन करना ही चाहिये, क्योंकि जो प्राण-दान करता है वही प्राण-हरण भी करता है। पर इसी कारण ऐसा मूर्ख कौन होगा जो उसे वश करना चाहेगा। देखो बँधी नदी और संकुचित वायु रोग, शोक, और मृत्यु का कारण होती हैं। हे ब्राह्मण, भला तुम स्त्रियों के विषय में क्या जानो!

देव—कुछ भी नहीं, महाराज ! ब्राह्मण के घर जन्म लेकर अपने पिता और माता का वंश उज्ज्वल किये हुए त्रिकाल सन्ध्या और तर्पण किया करता था, परन्तु जब से आपका संसर्ग हुआ है, सब देवताओं को विसर्जन कर दिया है-केवल अनंग देव की आराधना रह गई है। महिम्नस्तव भुलाकर नारी-महिमा का गीत गाना सीख लिया है। पर वह विद्या भी

पुस्तकगत है, क्योंकि आपकी आँखों की लाली देखकर उसे भी मैं स्वप्न की तरह भूल जाता हूँ ।

विक्रम—नहीं सखे ! डरो मत, मैं कुछ न कहूँगा । तुम अपनी नयी विद्या का परिचय दे डालो ।

देव—सुनिये । कवि भर्तृहरि जी कहते हैं:—

" नारियो के वचन में मधु, है हृदय में अति गरल ।
अधर से देतीं सुधा, चित्त में लगाती हैं अनल ॥ *

विक्रम—फिर वही पुरानी बात !

देव—सचमुच पुरानी है, पर क्या करूँ महाराज, जितनी पुस्तकें खोलता हूँ, सब में यही एक बड़ी बात दिखाई पड़ती है । मालूम होता है, जितने प्राचीन पण्डित थे, वे सबके सब अपनी प्रियतमाओं को लेकर एक क्षण भी सुचित नहीं रहते थे । पर आश्चर्य तो यह है कि जिनकी ब्राह्मणी पर-पुरुष की खोज में इस प्रकार घूमा करती थीं, वे एकाग्र मनसे सुन्दर-सुन्दर छन्दों से काव्य की रचना कैसे करते थे !

विक्रम—झूठा अविश्वास था ! वे जान-बूझकर अपने को धोखा देते थे । क्षुद्र हृदय का प्रेम अत्यन्त विश्वास से मृत और जड़वत् हो जाता है । इसी से उसे मिथ्या अविश्वास करते हुए भी जगाना पड़ता है । उधर देखो, वह ढेर का ढेर राज-काज का बोझ लिए हुए मंत्री आ रहे हैं । यहाँ से मैं अब भागता हूँ ।

देव—हाँ, हाँ, भागिये, भागिये, अन्तःपुर में जाकर रानी के राज्य में आश्रय लीजिये । अधूरा राज-काज को बाहर ही पड़ा

---

* मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदि हलाहलमेव केवलम् ।
अतएव निपीयतेऽधरो, हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥

(भर्तृहरि शृङ्गार शतक)

पडा बढ़ने दीजिये। जितना ही दिन वह पडा रहेगा, उतना ही वह बढ़ता हुआ अन्त मे एक दिन वह आपका द्वार छोड़कर भगवान के विचारासन की ओर पहुँच जायगा।

विक्रम—यह क्या मुझे उपदेश दे रहे हो ?

देव—नहीं राजन् ! यह प्रलाप है। आप जाइये समय नष्ट हो रहा है।

(मत्री का प्रवेश)

मंत्री—महाराज तो अभी यहीं न थे ?

देव—अन्तःपुर की ओर अन्तर्द्धान् हो गये हैं।

मंत्री—(बैठकर) हा! भगवन् ! इस राज्य की क्या दशा हो गई ! कहाँ है राजा, कहाँ है राज्य सिहासन और कहाँ है राजदण्ड ! श्मशान-भूमि की तरह विषण्ण विशाल राज्य की छाती पर मानो पाषाण रुद्ध-वधिर अन्ध अन्तःपुर घमण्ड से खड़ा है, और राजलक्ष्मी अनाथा की तरह द्वार पर बैठकर हाहाकार करती हुई रो रही हैं।

देव—मुझे तो देखकर हँसी आती है। राजा भाग रहे है और राज्य उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। मंत्रिवर, यह तो अच्छा ही हुआ, राजा और राज्य दोनो मिलकर मानो आँख-मिचौनी खेल रहे हैं।

मंत्री—ब्राह्मणदेवता, यह क्या हँसने की बात है ?

देव—हँसे न तो क्या करें ? वन में रोना तो मूर्खों का काम है। रात-दिन का रोना सहा नहीं जाता। इसी से रोने के बदले सूखी श्वेत हँसी तुषार की तरह जमे हुए आँसुओ के बदले कभी कभी आ जाती है। अच्छा बताओ बात क्या है ?

मंत्री—तुम तो सब जानते ही हो। रानी के इन कश्मीरी [illegible]-बन्धुओ ने एक प्रकार से समस्त राज्य को अपने हाथ

में कर लिया है। उन लोगों ने राजा के प्रताप को विष्णुचक्र से छिन्न-भिन्न मृत सती की देहकी*तरह टुकड़े टुकड़े करके आपस में बाँट लिया है। इन कश्मीरियों के अत्याचार से सताई हुई प्रजा रो रही है। पर जब राजा ही नहीं, तो उनका रोना कौन सुने! ये काश्मीरी परदेशी मंत्री लोग बैठे बैठे मुसकुराते हैं। हा! यह दशा देखकर यद्यपि मेरा हृदय फटा जाता है, पर तो भी सूने सिंहासन के पास निज कर्त्तव्य वश चुपचाप बैठा रहता हूं।

देव—अहा! आँधी चल रही है, नाव डूब रही है, नौकारोही यात्री रो रहे हैं। खाली हाथ कर्णधार एक ओर खड़ा-खड़ा पूछ रहा है, पतवार कहाँ गया? कर्णधार! उसके खोजने में अपनी जान व्यर्थ क्यों गँवाते हो? क्योंकि राजारूपी पतवार को रमणी ने अपनी ओर खींच लिया है। और उससे लीला-सरोवर में जहाँ वसन्त-वायु वह रही है, प्रेम की नौका चला रही है। इधर राज्य के भार से बोझी हुई नौका को लेकर बेचारा मंत्री अगाध जल में डूब रहा है।

मंत्री—देवता, हँसो मत! शोक के समय हँसना अच्छा नहीं लगता!

देव—मैं कहता हूँ मंत्रिवर! राजा को छोड़ सीधे रानी के ही चरणों में क्यों नहीं जा गिरते?

मंत्री—मुझ से यह नहीं होगा। रमणी अपने ही कुटुम्बियों के विषय में क्या कभी विचार कर सकती है?

देव—मंत्री, तुम कोरी राजनीति जानते हो, पर मनुष्यों की पहचान तुम्हें नहीं है। स्त्रियाँ अपने हाथों से अपने स्वजनों

---

* आख्यान देखो

को दण्ड दे सकती हैं, पर दूसरों के दिये हुए दण्ड को नहीं सह सकती ।

मंत्री—ओह, सुनो यह कैसा शोर है !

देव—यह क्या प्रजा विद्रोह है ?

मंत्री—चलो, देखें क्या बात है !

द्वितीय दृश्य

राजपथ

भीड

कन्नू नाऊ—अरे भाई यह रोने-धोने का दिन नहीं है। रो तो बहुत चुके, पर उससे क्या कुछ हुआ ?

मनसुख किसान—ठीक कहते हो भाई, ठीक कहते हो, साहस से ही सब काम होते है। कहावत भी है "जिसकी लाठी उसकी भैंस ।"

कुशीलाल लुहार—भीख माँगने से अब कुछ न होगा। हम लोग अब लूट-पाट से ही काम चलायेंगे ।

कन्नूनाऊ—भिक्षा नैवचं, नैवचं। क्यो चाचा तुम तो स्मार्त्त ब्राह्मण के लडके हो। भला बतलाओ तो लूट-पाट में क्या कुछ पाप है ?

नन्दलाल—कुछ नहीं जी कुछ नहीं, भूख के आगे कोई नहीं ठहर सकता। क्या जानते नहीं, अग्नि को कहते हैं पावक, अग्नि सब पापो को नष्ट कर देती है। फिर जठराग्नि से बढ़कर कोई आग ही नहीं है ।

कुछ लोग एक साथ—ठीक कहते हो, शाबाश! जीते रहो, पण्डितजी जीते रहो! अच्छा तब यही होगा, अब हमलोग आगही लगावेंगे। अरे आग मे पाप नहीं है भाई। इस बार उनलोगो की हवेलियो को ढहाकर गदहे से हल चलवावेंगे।

कुञ्जीलाल—मेरे पास तीन बर्छियाँ हैं।

मनसुख—मेरे पास एक हल है, उसी से बडे लोगों के सिरो को मिट्टी के ढेले की तरह तोड डालूँगा।

श्रीहर तेली—मेरे पास एक बडी सी कुदारी थी, पर भागते समय उसे घर ही छोड़ आया हूँ।

हरिदीन कुम्हार—अरे तुमलोगों की मौत आरही है क्या? अरे इतना बक-बक क्यो कर रहे हो? पहिले राजा से तो कहो, अगर वह न सुनेंगे तो दूसरी सलाह की जायगी।

कन्नू नाऊ—मै भी तो यही कहता हूँ।

कुञ्जीलाल—मैं भी तो यही सोचता हूँ।

श्रीहर तेली—मै तो पहिले से ही कह रहा हूँ कि कायथ बच्चे को बोलने दो। अच्छा भाई, तुम राजा से डरोगे तो नहीं?

मन्नूराम कायस्थ—मैं किसी से नहीं डरता। जब तुम लोग लूट-पाट करते हुए नहीं डरते, मैं तब भला दो चार कोरी बातें कहने मे क्या डर जाऊँगा?

मनसुख किसान—अजी दंगा-फसाद करने में और दो बातें करने मे बडा अन्तर है। यह तो बराबर देखने में आता है कि जिसका हाथ चलता है उसका मुँह नहीं चलता।

कन्नू—केवल मुँह से कोई काम नहीं होता, न पेट ही भरता है, और न बात ही बनती है।

कुञ्जीलाल—अच्छा, तुम राजा से क्या कहोगे, ज़रा कहो तो सही!

मन्नू—मै निडर होकर कहूँगा । मै पहिले ही शास्त्र सुनाऊँगा ।

श्रीहर तेली—सचमुच क्या तुम शास्तर जानते हो ? इसीसे तो मैंने पहिले ही कहा था कि इस कायथ बच्चे को बोलने दो ।

मन्नू—मैं पहिले ही कहूँगा—

अति दर्पे हता लङ्का, अति माने च कौरवाः ।
अतिदाने बलिर्बद्धः, सर्व्वमत्यन्त गर्हितम् ॥

हरिदीन—हॉ बेशक, यह शास्त्र है ।

कन्नू—(ब्राह्मण नन्दलालसे) क्यो चाचा, तुम तो ब्राह्मण के लड़के हो, बताओ यह शास्त्र की बातें है या नहीं ? तुम तो यह सब जानते हो ।

नन्दलाल—हॉ–उसे–हॉ जी उसका नाम क्या है–समझता क्यो नहीं ? परन्तु राजा अगर न समझे तो तुम उन्हें कैसे समझाओगे ? ज़रा समझाकर कहो तो सही ।

मन्नू—इसका यही अर्थ है कि बहुत अति करना अच्छा नहीं ।

जौहर—अरे, इतनी बडी बात का इतना छोटा सा अथ हुआ ?

श्रीहर तेली—अगर ऐसा न हो तो फिर शास्तर ही क्या ?

नन्दलाल—गॅवार लोगो के मुँह से जो बातें छोटी मालूम होती है, वही बड़ो के मुँह से बडी जान पड़ती है ।

मनसुख किसान—पर बात है बड़ी अच्छी " अति करना अच्छा नहीं " सुनकर राजा की ऑखें खुल जायॅगी ।

जौहर—पर सिर्फ इसी एक बात से काम नहीं चलेगा, ... भी शास्तर की जरूरत होगी ।

मन्नू—भला इसके लिये क्या चिन्ता है ! मेरे पास इसकी काफी पूंजी है, मैं कहूँगा—

" लालने वहवो दोषास्ताड़ने वहवो गुणाः ।
तस्मात् मित्रञ्च पुत्रञ्च ताडयेत् न तु लालयेत् ॥ "

हमलोग भी राजा के पुत्र ही हैं ? मै कहूँगा "हे महाराज ! आप हमलोगो की ताडना न करें, यह तो अच्छी बात नहीं है।"

हरिदीन—वाह ! क्या कहना है ! यह बात तो सुनने में बड़ी अच्छी लगती है ।

श्रीहर तेली—परन्तु केवल शास्तर कहने से काम नहीं चलेगा । मेरे कोल्हू की बात कैसे आवेगी ? उसी के साथ जोड़ देने से क्या अच्छा न होगा ?

नन्द—बच्चा, तुम कोल्हू के साथ शास्तर जोड़ोगे ? उसे क्या तुमने अपना बैल समझ लिया है ?

जोटर जुलाहा—आखिर है तो तेली ही, उसे और कितनी बुद्धि हो सकती है ।

कुञ्जीलाल—बिना दो-चार धौल उसके पीठ पर पड़े उस की अकिल ठिकाने नहीं हो सकती । पर हाँ, यह तो बताओ मेरी चर्चा कब छेडोगे ? याद रहेगा न ? मेरा नाम है कुञ्जी लाल, काँजीलाल नहीं, वह मेरा भतीजा है, वह वुध्रकोट में रहता है । वह जब तीन वर्ष का था तभी उसको.

हरिदीन—हाँ, यह सब मैं जान गया । पर आज कल का समय बड़ा टेढ़ा है । अगर राजा शास्तर की बातें न सुनें तब ?

कुञ्जीलाल—तब हमलोग भी शास्तर छोड़ अस्त्र उठावेंगे ।

मनसुख—किसने कहा जी ? इस बातको किसने कहा ?

कुञ्जीलाल—(घमण्ड के साथ) मैंने कहा है, मैंने । मेरा नाम है कुञ्जीलाल, काँजीलाल है मेरा भतीजा ।

कन्नू—हाँ तुमने कहा तो है ठीक—शास्तर और अस्तर—कभी शास्तर और कभी अस्तर—और फिर कभी अस्तर और फिर कभी शास्तर।

जौहर—पर यह तो बड़ा गडबड़ होरहा है। बात क्या तै हुई, यह तो कुछ समझ में ही नहीं आती। शास्तर या अस्तर?

श्रीहर तेली—बचा, जुलाहे न हो, इसी से इतना भी न समझ सके? अरे तै हुआ कि शास्तर की महिमा समझने में ढेर देर लगती है, पर अस्त्र की महिमा बहुत जल्दी समझ में आ जाती है।

बहुतसे—(चिल्लाकर) तब शास्तर को भार में झोंको, अस्तर उठाओ।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव—घबड़ाओ मत! भार में ही सबलोग जाओगे, उसकी तैयारी हो रही है। हाँ जी, तुम लोग क्या कह रहे थे?

श्रीहर—गुरुजी, हमलोग इस भले आदमी के लडके से शास्तर सुन रहे थे।

देव—हाँ, क्या इसी तरह मन लगाकर शास्त्र सुना जाता है? तुम लोगों ने मारे चिल्लाहट के राजा के कानकी चैली उड़ा दी। ऐसा मालूम होता है, जैसे कहीं धोवियों के महल्ले में आग लगी हो।

कन्नू—हाँ गुरुजी, आप ऐसा क्यों न कहेंगे? आप तो राजा के यहाँ का सीधा खाय-खायकर मोटाये जा रहे हैं न? और हम लोगों के पेट की अँतड़ी तक मारे भूखके जलरही है। हमलोग क्या बड़े साध से चिल्ला रहे हैं?

मनसुख—आजकल धीरे कहने से सुनता ही कौन है! चिल्ला करके ही बातें कहनी पड़ती है।

कुशीलाल—रोना-धोना बहुत हो चुका। अब हम लोग देखेंगे कि दूसरा कुछ उपाय है या नहीं।

देव—क्या कहते हो जी? तुम लोगों की ढिठाई बहुत बढ़ गई है? अच्छा सुनोगे, कहूं?

* नरसमान समान समोन समागम मापसमीक्ष्य वसन्तनभः।
भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद, भ्रमरच्छलतः खलुकामिजनः।*

हरिदीन—अरे बप्पा, शाप दे रहे हैं क्या?

देव—(मन्नू के प्रति) तुम तो पंडित के लड़के हो, तुम तो शास्त्र समझते हो। क्या यह बात ठीक है या नहीं?

" नरस मानस मानस मानसं "

मन्नू—अहा! बहुत ठीक है। इसी का नाम शास्त्र है। मैं भी तो ठीक यही बातें इन्हें समझा रहा था।

देवदत्त—(नन्दलाल से) नमस्कार! आपतो ब्राह्मण मालूम होते हैं, अच्छा आपही बताइये इसका परिणाम क्या होगा? अन्त में ये सब मूर्ख " भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद, " होकर मरेंगे न?

नन्द—मैं तो बराबर यही कह रहा हूँ, पर सुनता कौन है? आखिर ये छोटी ही जात तो हैं।

देव—(मनसुख से) तुम्हीं इन लोगों में बुद्धिमान जान पड़ते हो, भला तुम्हीं बताओ ये सब बातें क्या अच्छी हो रही थीं? (कुशीलाल से) तुम भी तो बड़े भले आदमी जान पड़ते हो। हाँ जी, तुम्हारा नाम क्या है?

कुशीलाल—मेरा नाम है कुशीलाल—कॉजीलाल मेरे भतीजे का नाम है।

देव—हाँ तुम्हारे ही भतीजे का नाम कॉजीलाल है? तब तो मैं राजा से विशेष करके तुम्हारी चर्चा करूँगा।

* "नलोदय - कालिदास," अनुवादक।

हरिदीन—और हम लोगो का क्या होगा ?

देव—इसे मैं अभी नहीं बता सकता। क्यो, अब तो तुम लोगो ने रोना शुरू किया, पर इसके थोड़ी देर पहिले कैसा सुर निकला था ? क्या समझते हो कि राजा ने तुम्हारी इन बातो को सुना नहीं होगा । राजा सब सुनते हैं ।

बहुत से—दुहाई गुरुजी ! दुहाई महाराज की ! हम लोगों ने कुछ नहीं कहा था, इसी कजूलाल या मजूलाल ने ही अस्तर की बात छेडी थी ।

कुञ्जीलाल—चुप रहो, मेरा नाम न बिगाडो जी। मेरा नाम है कुञ्जीलाल। मैं कभी झूठ नहीं बोलता। मैंने कहा था, 'जैसा शास्त्र है वैसा अस्त्र भी है।' क्यो ठीक कहा कि नहीं, गुरुजी !

देव—तुमने ठीक कहा। तुमने अपने योग्यता के अनुसार ही कहा है " दुर्वलस्य बलंराजा " राजा ही दुर्वलो का बल है, और फिर " बालोनां रोदनं बल "। तुम लोग राजा के आगे बालक ही तो हो। इस लिये यहाँ रोना ही तुम लोगो का अस्त्र है। अगर शास्त्र से काम न चले, तो तुम लोगो का रोना ही अस्त्र है भाई, तुमने बडी बुद्धिमानी की बात कही है। सच है, पहिले मुझ को भी चकाचौंध सी लग गई थी। तुम्हारा नाम याद रखना होगा। हाँ जी, तुम्हारा नाम क्या है ?

कुञ्जीलाल—मेरा नाम है कुञ्जीलाल—काँजीलाल मेरा भतीजा है।

और सब लोग—गुरुजी ! हम लोगो को क्षमा करो, क्षमा करो !

देव—अजी, मैं क्षमा करने वाला कौन हूँ ! पर हाँ, रो धो कर देखो, शायद राजा क्षमा कर दें। (प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

अन्तःपुर-प्रमोद-कानन

विक्रम देव और सुमित्रा

विक्रम—लज्जा से झुकी हुई नव-वधू की तरह मौन, मुग्ध सन्ध्या धीरे-धीरे इस कुञ्ज-वन मे आ रही है। जिस प्रकार सामने गभीर रात्रि अपने अनन्त अन्धकार को फैलाकर सन्ध्या की इस कनक-कान्ति को आच्छादित किया चाहती है, उसी प्रकार मै भी तेरी इस हँसी, इस रूप और इस ज्योति को पान करने के लिये अपना हृदय पसारे हुए खड़ा हूँ। प्रियतमे! दिवालोक तट से आओ, उतर आओ, अपना कनक-चरण रखकर मेरे इस अगाध हृदय के अगाध सागर में अवगाहन करो। प्रिये, अब तक तू कहाँ थी?

सुमित्रा—विश्वास रखो, मैं नितान्त तुम्हारी ही दासी हूँ। परन्तु घर के कामकाज में लगी रहने के कारण सदा तुम्हारे पास नहीं रह सकती। नाथ! वह घर और काम भी तो तुम्हारा ही है?

विक्रम—रहने दो घर और घर का काम! इस ससार में नहीं, मेरे हृदय में ही तुम्हारा घर है। प्रिये, बाहरी घर से तुम्हें क्या काम! बाहरी घर के कामों को बाहर ही पडे-पड़े रोने दो।

सुमित्रा—केवल तुम्हारे हृदय में? नहीं नाथ, नहीं राजन्! मै अन्दर बाहर दोनो ही जगह तुम्हारी हूँ। अन्तर में मैं तुम्हारी प्रेयसी हूँ और बाहर महिषी।

विक्रम—हाय, प्रिये! आज वह सुख का दिन स्वप्न सा क्यों जान पडता है? वह प्रथम-मिलन, प्रेमकी छटा,

देखते-देखते समस्त हृदय और देहमें यौवन का विकास, रात्रि मे मिलती समय हृदयका स्पन्दन, आँखो मे फूलो पर पड़ी हुई ओसकी बूँदो की तरह लज्जा, ओठो की वह हँसी जो सन्ध्या के हवा लगने से कातर-कम्पित दीप-शिखा की भाँति कभी प्रगट होती थी, कभी छिप जाती थी, वह आँखोसे आँखो का मिलकर झँपजाना, हृदयकी बातो का मुँह से न निकलना, चाँद और ताराओ का आकाश से यह कौतुक देखकर हँसना, और रात बीतने पर आँखोका डबडबाना, तनिक से विच्छेद के कारण हृदय का व्याकुल हो जाना, प्रिये ! यह सब क्या स्वप्न था ? उस समय गृह-कार्य्य कहाँ था ? उस समय संसार-भावना कहाँ थीं !

सुमित्रा—नाथ ! उस समय हम छोटे-छोटे बालक और बालिका थे, पर आज हम राजा और रानी हैं।

विक्रम—राजा और रानी ! कौन है राजा, और कौन है रानी ? नहीं, मै राजा नहीं हूँ। देखो, सूना सिंहासन पड़ा रो रहा है। राज-काज तुम्हारे पैरो के नीचे पड़ा पडा धूलमें मिलरहा है।

सुमित्रा—यह सुन कर नाथ मै लज्जा से मर रही हूँ। छिः छिः महाराज ! ऐसा प्रेम किस कामका ? इस प्रेम ने तो आपके उज्ज्वल प्रताप रूपी सूर्य्य को मध्याह्न काल में ही आकाश के बादलो की भाँति ढक लिया है। प्रियतम ! सुनो, तुम्हीं हमारे सब कुछ हो। तुम्हीं मेरे महाराज हो, और तुम्हीं मेरे स्वामी हो। मैं तुम्हारी अनुगत छाया मात्र हूँ, इससे अधिक नहीं। मुझे लज्जित न करो। महाराज राजश्री की अपेक्षा मुझे अधिक प्यार न करो !

विक्रम—तब क्या तुम मेरा प्रेम नहीं चाहती ?

सुमित्रा—नाथ ! कुछ थोड़ासा चाहती हूँ, सब नहीं। मुझे

अपने हृदय के एक कोने मे स्थान दो, पर अपना समस्त हृदय ही मुझे न दे डालो।

विक्रम—हा! अब तक मै स्त्रियो के गूढ रहस्य को न समझ सका।

सुमित्रा—महाराज! पुरुषो को दृढ़ तरु की भाँति अपने ही बल पर स्वतंत्र, उन्नत और अटल रहना चाहिये, तभी तो स्त्रियाँ लता की भांति उनकी शाखाओ में आश्रय पावेंगी। परन्तु यदि पुरुषगण अपना समस्त हृदय स्त्रियो को दे डालेंगे तो हम लोगो का प्रेम कौन ग्रहण करेगा? इस संसार का बोझ कौन उठावेगा? नाथ! पुरुषों को कुछ स्नेहमय, कुछ उदासीन, कुछ मुक्त और कुछ लिप्त रहना चाहिये, क्योकि वृक्ष केवल लताओ का ही आश्रय-स्थल नहीं है, वरन वह सहस्रो पक्षियो का गृह, बटोहियो का विश्राम स्थान, तप्त भूमि के लिये छाया, मेघो का सुहृद और आँधीका प्रतिद्वन्दी भी है।

विक्रम—प्रिये! इन व्यर्थ बातो को हटाओ। देखो इस सन्ध्या समय प्रेम-सुख से मौन होकर पक्षी अपने-अपने घोसलो में आनन्द कर रहे हैं, उसीसे उनकी मधुर ध्वनि सुनाई नहीं पडती। ऐसे समय हमलोग इन सब बातो में इस सुन्दर समय को क्यो खोयें? प्रिये अधर को अधर में प्रहरी की तरह रखकर, इन चञ्चल बातों का द्वार बन्द करदो।

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज! अत्यन्त आवश्यक राजकार्य्य के लिये मन्त्री आपका दर्शन करना चाहते हैं।

विक्रम—धिक्कार है तुझे, धिक्कार है मन्त्रीको, और धिक्कार है राजकार्य्य को! रसातल में जाय राज्य और जहन्नुम में जाय मन्त्री।

(कञ्चुकी का प्रस्थान)

सुमित्रा—जाओ, नाथ जाओ !

विक्रम—बार बार वही बात ! जाओ, जाओ ! काम ! काम ! क्या मैं जा सकता ही नहीं ? कौन रहना चाहता है ? हाथ जोड़कर तुमसे नाप नाप कर एक एक बूँद कृपा कौन माँगता है ? जाता हूँ, मैं अभी जाता हूँ । (जाते हुए लौट कर) अय मेरी हृदय लता ! मेरे अपराधों को क्षमा करो । आंसुओं को पोंछो । प्रिये, भृकुटी-कुटिल-कटाक्ष से तिरस्कृत करके मुझे दण्ड भले ही दे लो, पर उदास न हो ।

सुमित्रा—महाराज ! इन बातों के लिये यह समय नहीं है-लो मैंने आँसू पोंछ डाले । आप कर्त्तव्य-कार्य से विमुख न होइये ।

विक्रम—हा, स्त्रियों का हृदय भी कैसा कठोर होता है ! प्रिये कोई काम नहीं है, यह व्यर्थ का उपद्रव है । वसुन्धरा धन-धान्य से परिपूर्ण है । प्रजागण सुखी है, राजकाज ठीक से चल रहा है । यह चतुर वृद्धमंत्री अपनी सावधानता दिखाने के लिये केवल साधारण सी बातों को तथा सामान्य विघ्न-बाधाओं को बड़ी बना डालता है ।

सुमित्रा—नहीं, नहीं, देखो वह प्रजाओं के रोने का शब्द सुनाई पड रहा है । कातर स्वर से प्रजा पुकार रही है । अय वत्सगण ! तुम अपने को मातृ-हीन न समझो । मैं ही इस राज्य की रानी हूँ, मैं ही तुम लोगों की माता हूँ । मेरे रहते तुम लोग मातृ-हीन नहीं हो सकते ।

(प्रस्थान)

चतुर्थ दृश्य

राजमहल

सुमित्रा

सुमित्रा--ब्राह्मण अब तक नहीं आया। न जाने कहाँ रह गया। दुखी प्रजाओं का कातर क्रन्दन-ध्वनि धीरे-धीरे बढ़ रही है।

(देवदत्तका प्रवेश)

देव—जय हो !

रानी—देवता, यह क्रन्दनध्वनि और कोलाहल क्यों हो रहा है ?

देव—मा ! तुम उसे क्यों सुनती हो। सुनने ही से तो कोलाहल सुनाई पड़ता है, न सुनने से कहीं कुछ नहीं है। महारानी, सुखी रहो, कान मून्द लो। क्या अन्तःपुर में भी कोलाहल पहुँच गया है ? क्या वहाँ भी शान्ति नहीं है ? कहिये तो अभी मैं सेना साथ लेकर इन फटे वस्त्र धारण करनेवाले, भूख और प्यास से तड़फते हुए कोलाहल करनेवालों को भगा दूँ।

सुमित्रा—शीघ्र कहो क्या हुआ ?

देव—कुछ नहीं-कुछ नहीं। महारानी केवल भूख ! भूख ! भूख ! हा राक्षसी भूख का ही यह सब बखेड़ा है। गँवार असभ्य दरिद्रों का दल क्षुधा की ताड़ना से चिल्ला रहा है। हा ! उन्हें इस बातका तनिक भी ज्ञान नहीं है, कि उनकी चिल्लाहट की डर से राजकुल के जितने कोकिल और पपीहा हैं, वे सब मौन हो गये हैं।

सुमित्रा—अहा ! कौन भूखा है ?

देव—महारानी! भूखा किसे कहूँ, अभागो का भाग्य ही मन्द है, नहीं तो जिन अभागो का दिन आधे पेट खाकर बीत चुका है, उनको भी अबतक अनशन व्रतका अभ्यास नहीं हुआ। यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है?

सुमित्रा—देवता! धरती अन्नसे परिपूर्ण है तो भी प्रजा विना खाए हाहाकार कर रही है, यह कैसी बात है?

देव—महारानी, अन्न तो उसी का है जिसकी पृथ्वी है, धरती दरिद्रो की नहीं है। दरिद्र यज्ञभूमि के कुत्ते की तरह जीभ हिलाते हुए एक ओर पड़े रहते है, यदि भाग्य सुप्रसन्न हुआ तो कभी जूठन खाने को मिल गया, नहीं तो मार तो सदा मिलती ही है। यदि किसी ने दया की तो बेचारे जी गये, नहीं तो मरने के लिये रोते हुए राह में इधर-उधर तो घूमते ही है।

सुमित्रा—क्या कहा? राजा क्या तब निर्दयी है? देश क्या अराजक है?

देव—कौन कह सकता है कि देश अराजक है। मेरी समझ में तो देश सहस्र राजक है।

सुमित्रा—तो क्या आमात्यगण राज-काज में यथोचित ध्यान नहीं देते?

देव—ध्यान नहीं देते! कौन कह सकता है कि ध्यान नहीं देते! ध्यान तो खूब देते हैं। घरका मालिक सोया है, यह जानकर क्या चोरो की दृष्टि उस घर पर नहीं है। वह तो शनि की दृष्टि है, पर इसमें उनलोगो का क्या दोष है? परदेश से वे खाली हाथ यहाँ क्या केवल सब प्रजाओं को आशीर्वाद देने के लिये आये है?

सुमित्रा—वे परदेशी कौन है? क्या वे मेरे ही आत्मीय है?

देव—हाँ महारानी, आपही के वे आत्मीय, हैं इसलिये वे प्रजा के मामा हैं, ठीक वैसेही जैसे कंस और कालनेमि।

सुमित्रा—जयसेन ?

देव—हाँ, वह सुशासन करने ही में लगे रहते हैं, उनके प्रबल शासन से सिंहगढ़ में अन्न और वस्त्रका जितना बखेड़ा था, सब छूट गया। अब केवल अस्थि और चर्म मात्र ही बच रहा है।

सुमित्रा—शिलादित्य ?

देव—उनका ध्यान वाणिज्य उन्नति की ओर है। वणिकोंके धनके बोझको वे सदा हल्का करके अपने कन्धों पर उठा लेते हैं।

सुमित्रा—युधाजित ?

देव—अहा! वे तो बड़े ही भले आदमी हैं। सभी से मीठी मीठी बातें बोलते हैं, सबको बाबू, भैया, बच्चा कहकर पुकारते हैं पर तिरछी आँखें चारो ओर देखकर पृथ्वी की पीठ पर आदरसे हाथ फेरते हैं, उस समय हाथ में जो लग जाता है उसे बड़े यत्न से उठा लेते हैं।

सुमित्रा—हाय! यह कैसी लज्जा की बात है। कैसा घोर पाप है। मेरे ही आत्मीय मेरे ही पितृकुल के कलंक! हा! हा हा! इस कलंकको मैं अभी दूर करूँगी, क्षण भर भी देर नहीं करूँगी।

(प्रस्थान)

पञ्चम दृश्य

देवदत्त का गृह

नारायणी घर के कामों में लगी है

देवदत्त का प्रवेश

देव—प्रिये ! घर में कुछ है ?

नारा०—हाँ, है क्यो नहीं ! मै हूँ । वह भी न रहूँ तो आफत छूट जाय ।

देव—यह कैसी बात है ?

नारा०—तुम राह से बटोर-बटोर कर इस राज्य के सब भिक्षुको को बुला लाते हो । यहाँ तक कि घर में चूनी-भूसी भी बचने नहीं पाती और रात दिन खटते खटते मेरा शरीर भी अब बचता नहीं दीखता ।

देव—मै क्या शौक से उन्हे ले आता हूँ ? बात यह है कि कामो में लगी रहने से ही तुम अच्छी रहती हो । और इसी से मैं भी अच्छी तरह रहता हूँ । चाहे और कुछ लाभ हो या न हो पर तुम्हारा मुँह तो बन्द रहता है ।

नारा०—हाँ अच्छा, तो लो मै अपना मुँह बन्द कर लेती हूँ, कौन जानता था कि मेरी बातें अब तुम्हें असह्य होगी ? तुम से कौन कहता है कि तुम मेरी बातें सुनो ।

देव—तुम्हीं तो कहती हो और दूसरा कौन कहेगा ? एक बात के बदले दस बातें सुना देती हो ।

नारा०—ठीक है ! मैं दस बातें सुना देती हूँ । अच्छा, लो मैं चुप हो जाती है । मै एक दम चुप हो जाऊँ ना

तुम्हें आराम मिले । अब क्या वह दिन है ! वह दिन गया ! अब नये मुँह की नयी बातें सुनने का शौक हुआ है, अब मेरी बातें तो पुरानी न हो गयीं ।

देव—बापरे, बाप । अरे ! फिरसे नये मुँह की नयी बात ! डर मालूम होता है । पुरानी बातो के सुनने का तो भला अभ्यास भी पड गया है ।

नारा०—अच्छा, अच्छा ! मेरी बाते तुम्हें इतनी बुरी लगती हैं तो लो मैं चुप हो जाती हूँ । अब मैं एक बात भी न कहूंगी । पहलेही क्यो नहीं कह दिया । मैं तो नहीं जानती थी । जानती तो क्या मैं तुम्हें—

देव—क्या मैंने तुमसे पहिले नहीं कहा था ? न जाने कितनी बार तो कहा है । पर कुछ असर तो हुआ नहीं ।

नारा०—हाँ ! अच्छी बात है आज से मैं चुप हो जाती हूँ जिससे तुम भी सुख से रहो और मैं भी सुख से रहूँ । मुझे क्या बकने की साध लगती है ? तुम्हारा ढंग देखकर—

देव—क्या यही तुम्हारा चुप रहना है ?

नारा०—अच्छा (मुँह फेर लेना) ।

देव—प्रिये ! प्रेयसी मधुरभाषिणी ! कोकिल-गंजिनी !

नारा०—चुप रहो ।

देव—क्रोध न करो प्रिये ! कोयल की तरह मे तुम्हारा रंग नहीं बताता बल्कि कोयल की तरह तुम्हारा पञ्चम स्वर है ।

नारा—जाओ, जाओ, बको मत ! पर मै तुम से इतना बता देती हूँ कि अगर तुम और भिखमंगो को बटोर लाओगे तो उन्हें झाड़ू मारकर विदा कर दूँगी या आपही वन में चली जाऊँगी ।

देव—ऐसा करोगी तो मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे जाऊँगा और भिक्षुक लोग भी मर जायँगे ।

नारा०—सच है, ढकी को स्वर्ग में भी सुख नहीं मिलता ।

(नारायणी का प्रस्थान)

(माला जपते हुए त्रिवेदी का प्रवेश)

त्रिवेदी—शिव, शिव, शिव । क्यों जी तुम राजपुरोहित न हुए हो ?

देव—हाँ हुआ तो हूँ । परन्तु आप इससे क्रोध क्यों करते हैं ? मैं उसके लिये कुछ साधना तो करता नहीं था । पुरोहिताई पाने के लिये मैंने न तो कभी माला ही फेरी और न कभी मनौती ही मानी । पर राजा की मर्ज़ी, इसमें मेरा क्या दोष है ?

त्रिवेदी—पिपीलिका का पक्षच्छेद हुआ है, घबड़ाओ मत । श्रीहरिः श्रीहरिः !

देव—मुझ पर क्रोध करके आप शब्द-शास्त्र के प्रति ऐसा अत्याचार क्यों कर रहे हैं ? पक्षच्छेद नहीं पक्षोद्भेद ।

त्रिवेदी—यह एक ही बात है। छेद और भेद में कुछ अन्तर नहीं है, लोग कहते ही हैं छेद, भेद ! श्री हरिः ! जो हो तुम्हारी बुढ़ौती अब आ गई है, इसमें सन्देह नहीं ।

देव—मेरी ब्राह्मणी साक्षी है,अभी मेरा यौवन बीता नहीं है।

त्रिवेदी—मैं भी तो यही कहता हूँ । जवानी के घमण्ड से ही तुम्हारी इतनी बुढ़ौती आगई है इसलिये अब तुम मरोगे, इसमें सन्देह नहीं । श्रीहरि., दीनबन्धो !

देव—ब्राह्मण की बात मिथ्या नहीं होगी । मैं मरूँगा पर इसके लिये आपको विशेष आयोजन नहीं करना होगा,

षष्ठ दृश्य

अन्तःपुर-पुष्पोद्यान

विक्रमदेव, राजाका मामा, वृद्ध अमात्य

विक्रम--यह सब मिथ्या अभियोग है, झूठी बातें है, मैं जानता हूँ, युधाजित, जयसेन, उदयभास्कर बड़े ही लायक हैं। अगर उन लोगो का कोई अपराध है तो यही कि वे 'विदेशी' हैं। बस इसी से प्रजाओ के मन में विद्वेष की आग रात-दिन सुलगा करती है। और उसी आग से निन्दारूपी काला-काला धुवाँ उठा करता है।

अमात्य—महाराज! ऐसा नहीं है। उनके विरुद्ध सहस्रों प्रमाण हैं, आप विचार करके देख लीजिये।

विक्रम—प्रमाण की क्या आवश्यकता है? यह विशाल साम्राज्य विश्वास के ही बल पर चल रहा है। जिसके ऊपर जिस काम का भार दे दिया गया है वह उसे यत्न से पालन कर रहा है। फिर तो भी प्रतिदिन उनकी निन्दा सुनकर उनका विचार करना होगा? यह राजधर्म्म नहीं है। आर्य्य आप जाइए, मेरे विश्राम में विघ्न न डालिए।

अमात्य—मन्त्री ने मुझे भेजा है, और राजकाज के किसी बहुत ही गम्भीर विषय पर परामर्श करने के लिये उसने आप के दर्शन की प्रार्थना की है।

विक्रम—राज और राज्य कार्य्य कहीं भागा नहीं जाता, परन्तु यह सुमधुर अवसर कभी ही कभी दिखाई पडता है, जो भीर और सुकुमार है, वह फूलों की तरह खिल उठता

अपनी ही सुगन्ध, अपनी ही मधु से प्रसन्न होकर तू भौंरों की गीत सुनती है। स्निग्ध पल्लवों पर शयन करती हुई तुझे वायु के झोंके झूला झुलाते हैं। अपने सौन्दर्य की शोभा विस्तार करती हुई तू सुनील आकाश को देखती है, अन्त में धीरे-धीरे कोमल हरी-हरी दूबों पर आपही आप झरकर गिर पड़ती है। तर्क और नियम के जटिल जाल तुझे पीड़ा नहीं दे सकते। रात को नींद में संशय-रूपी सर्प तेरे मर्म स्थानों को नहीं डसते। निराश प्रणय का निष्फल आवेग तुझे सहना नहीं पड़ता।

(सुमित्रा का प्रवेश)

कठोरहृदये ! क्या तुम्हें दया आई ? संसार का जितना काम था होगया ? क्या इसी से सब के अन्त में इस दास का स्मरण हुआ है ? हे प्रिये, क्या तुम नहीं जानती कि सब कर्त्तव्यों से बढ़कर प्रेम है ?

सुमित्रा—हाय ! मुझे धिक्कार है। हे नाथ, मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ, मैं जो तुम्हें छोड़कर जाती हूँ यह तुम्हारे ही प्रेम से। महाराज, इस दासी की विनती सुनिये। इस राज्य के प्रजाओं की मैं माता हूँ, माता होकर अभागे सन्तानों का करुण क्रन्दन मुझ से नहीं सुना जाता। प्रभो ! दुःखी प्रजाओं की आप रक्षा कीजिये।

विक्रम—रानी तुम क्या चाहती हो ? कहो।

सुमित्रा—मेरी प्रजा को जो सता रहे हैं, इस राज्य से उन को निकाल दीजिए।

विक्रम—वे कौन हैं ? क्या जानती हो ?

सुमित्रा—हाँ, जानती हूँ।

(देवदत्त का प्रवेश)

(महाराज को देखकर चकित होकर)

देव--जय हो महारानी ! महारानी कहाँ है ? महाराज, आप यहाँ अकेले क्यो बैठे हे ।

विक्रम—तुम यहाँ किस लिये आये हो ? ब्राह्मण का षडयंत्र अन्तःपुर में चल रहा है । अच्छा बताओ, राज्य का समाचार रानी से किसने कहा ?

देव--राज्य का समाचार राज्य ने आपही दिया है। पीडित राज्य विलख-विलखकर रो रहा है । वह क्या कभी सोच सकता है कि उसके विलाप से आपके विश्राम में बाधा पड़ेगी ? महाराज ! डरो मत, मैं रानी के पास कुछ थोडी सी भिक्षा माँगने आया हूँ। ब्राह्मणी बडी ही अप्रसन्न है। घरमें अन्न का एक दाना भी नहीं है और भूख की भी कमी नहीं है ।

विक्रम--सुखी हो ! भगवन्, इस राज्य के सबलोग सुखी हो ! क्यो इतना दुःख है ? क्यो इतनी पीडा है ? इतना अत्याचार, इतना उत्पीडन, इतना अन्याय लोग क्यो करते हैं । मनुष्य मनुष्य को इतना क्यो सताते हैं ! दुर्बलो के तनिक से सुख, तनिक सी शान्ति पर सबल बाज़ की तरह क्यों झपटते हैं ? चलकर देखूं, शान्ति का कुछ उपाय हो सकता है या नहीं ।

सातवाँ दृश्य

मंत्रणा-गृह

विक्रमदेव और मंत्री

विक्रम—इसी समय सब विदेशी लुटेरो को राज्य से निकाल दो। सदा दुःख! सदा भय! समस्त राज्य में केवल विलाप सुनाई पडता है। बस अब ऐसा करो जिसमें पीडित प्रजा का आर्तनाद कभी सुनाई न पड़े।

मंत्री—महाराज! इसके लिये धैर्य्य की आवश्यकता है। कुछ दिनो तक श्रीमान् का ध्यान जब तक सब ओर नहीं जायगा, तब तक यह भय, शोक, विशृंखला दूर नहीं होगी। अन्धकार में बहुत दिनो से अमंगल बढा है। एक दिन में उसे दूर कैसे किया जा सकता है।

विक्रम—जैसे सैकडों वर्ष के पुराने साखू के, वृक्ष को लकडहारा एक दिन में काटकर गिरा देता है, उसी प्रकार मैं एक ही दिन में उपद्रव को जड से नाश कर देना चाहता हूँ।

मंत्री—परन्तु इसके लिये अस्त्र और सैन्य चाहिये।

विक्रम—क्यो? सेनापति कहाँ हैं।

मंत्री—सेनापति स्वयं विदेशी हैं।

विक्रम—लाचारी है। तव दुःखी प्रजाओं को बुलाओ और उनका मुहँ खाद्य पदार्थ दे कर बन्द करो। धन देकर उन्हें विदा कर दो। वे जहाँ जाने से सुखी हों, इस राज्य को छोड कर चले जायँ।

(राजा का प्रस्थान)

(देवदत्त के साथ सुमित्रा का प्रवेश)

सुमित्रा—मैं इस राज्य की रानी हूँ । तुम क्या इस राज्य के मंत्री हो ?

मंत्री—माता, प्रणाम ! मैं आपका सेवक हूँ । माता ! अन्तःपुर छोडकर इस मन्त्रणा-गृह मे आने का कष्ट आपने क्यो किया ?

सुमित्रा—प्रजाओं का रोदन सुनकर मैं अन्तःपुर में रह न सकी । इसलिये यहाँ उसका प्रतिकार करने आई हूँ ।

मंत्री—सेवक के प्रति जो आज्ञा हो दीजिये ।

सुमित्रा—इस राज्य में जितने परदेशी शासक है, उन्हे मेरे नाम से बहुत शीघ्र बुला भेजो ।

मंत्री—एकाएक इस प्रकार बुला भेजने से उनके मनमें सन्देह उत्पन्न होगा, जिससे उनमें से कोई भी न आवेंगे ।

सुमित्रा—क्या रानी की आज्ञा भी न मानेंगे ?

देव—लोग कहते हैं कि राजा रानी सबको वे भूल गये है ।

सुमित्रा—काल-भैरव की पूजा के दिन उस विशेष उत्सव के उपलक्ष में उनको निमन्त्रण भेजो । उस दिन उनका विचार किया जायगा । मदान्ध होकर यदि वे दण्ड स्वीकार न करें, तो उनको दमन करने के लिये पास ही सेना तैयार रखना ।

देव—दूत बनाकर किसे भेजियेगा ?

मंत्री—त्रिवेदीजी को । उनसे बढकर निर्बोध, सरल चित्त और धार्मिक ब्राह्मण दूसरा कोई नहीं मिलेगा । उन पर किसी को सन्देह नहीं होगा ।

देव—त्रिवेदीजी सरल हैं ? उनको सरल कौन कहता है निर्बुद्धि ही उनकी चतुराई है । सरलता ही उनकी कुटिलता का सहारा है ।

त्रिवेदी—मैं निर्बोध हूँ, मै दूध पीता बच्चा हूँ, मैं तुम्हारा काम निकालने वाला वैल हूँ । पीठ पर वोरा, नाक में नकेल, होने से न कुछ सोचेगा न कुछ समझेगा, केवल पूँछ एंठने से चलेगा और साँझ को तुम थोड़ासा भूसा उसे खाने को दे दोगे । श्रीहरि ! तुम्हारी ही इच्छा, अच्छा देखूगा कौन कितना समझता है । (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे ! अभी तक पूजा की सामग्री नहीं लाया ! देर हो रही है । नारायण ! नारायण !

❋ द्वितीय अंक ❋

प्रथम दृश्य

सिंहगढ़—जयसेन का महल

जयसेन, त्रिवेदी और मिहिर गुप्त

त्रिवेदी—हाँ जी ! अगर तुम इस प्रकार आँखें लाल करोगे तो मुझे जो कुछ कहना है मैं भूल जाऊँगा, भक्तवत्सल श्रीहरि ! देवदत्त और मंत्री ने मुझे वहुत कुछ सिखाकर भेजा है । हाँ मै क्या कहता था ? हमारे राजा कालभैरव के पूजाके उपलक्ष में—

जय०—उपलक्ष में ?

त्रिवेदी—हाँ, उपलक्ष ही सही, इसमें दोष क्या हुआ ? हे मधुसूदन ! पर हाँ, इसमें तुम्हें सन्देह हो सकता है सही । क्यो

कि उपलक्ष शब्द कुछ कठिन है, मैं देखता हूँ कि उसका यथार्थ अर्थ करने में बहुतों की बुद्धि चकरा जाती है।

जय०—आप ठीक कहते हैं। पण्डितजी, उसका यथार्थ अर्थ ही मैं सोच रहा हूँ।

त्रिवेदी—रामनाम सत्य! तो जाने दो भाई, उपलक्ष न कहकर उपसर्ग ही कहो। शब्दो का भला कौनसा अभाव है? शास्त्र कहता है कि शब्द ब्रह्म है। इसलिये चाहे उपलक्ष कहो चाहे उपसर्ग कहो, अर्थ दोनो का एक ही है।

जय०—ठीक है। राजा ने हमलोगोको बुलाया है उसका उपलक्ष उपसर्ग मात्र तो समझ गया। परन्तु उसका यथार्थ कारण क्या है, ज़रा समझाकर बताइये।

त्रिवेदी—भाई उसे समझाकर मैं नहीं कह सकता, उसको मुझे समझाकर किसीने नहीं बताया। श्रीहरि!

जय०—ब्राह्मण देवता! तुम बड़े कठिन स्थान में आये हो। समझ लो अगर एक बात भी छिपाओगे तो विपत्ति में पड जाओगे।

त्रिवेदी—हे भगवन्! हाँ भाई देखो तुम इस प्रकार बात बात में क्रोध न करो, तुम्हारा स्वभाव निरा मत्त मधुकर की तरह तो नहीं जान पडता।

जय०—अधिक बक-बक मत करो, यथार्थ कारण जो कुछ तुम जानते हो कह डालो।

त्रिवेदी—वासुदेव! सभी वस्तुओ का क्या यथार्थ कारण होता है? और यदि हो भी तो क्या सब लोग उसे जानजाते हैं? जिन लोगो ने चुपचाप परामर्श किया है, वही जानते हैं. मंत्री जानते हैं, देवदत्त जानते हैं। हाँ भाई, तुम

अधिक चिन्ता न करो, मैं समझता हूँ वहाँ जाने ही से तुम्हें यथार्थ कारण मालूम हो जायगा ।

जयसेन—मंत्री ने तुम से और कुछ नहीं कहा है ?

त्रिवेदी—नारायण ! नारायण ! तुम्हारी सौगन्ध उसने मुझ से कुछ नहीं कहा है । मंत्री ने कहा "त्रिवेदी जी देखो जो कुछ मैंने कहा है उसके अतिरिक्त कुछ भी न कहना । देखो, तुम्हारे ऊपर उनलोगो का ज़रा भी सन्देह न हो । मैंने कहा–राम राम, सन्देह भला क्यो होगा ? पर हाँ कहा नहीं जा सकता । क्योकि मैं तो सरल चित्त से सब कह जाऊंगा, पर जो सन्देह करते है वह करेंगे " श्रीहरि ! तुम्ही सत्य हो ।

जय०—पूजाके उपलक्ष में निमंत्रण है यह तो साधारण बात है, इसमें भला सन्देह करने की क्या बात है ?

त्रिवेदी—तुम लोग बडे आदमी हो, तुम लोगो को ऐसा हो सकता है ? नहीं तो "धर्मस्य सूक्ष्मागतिः" क्यो कही जाती है ? यदि तुम लोगो से कोई आकर कहे "आ रे दुष्ट तेरा सिर फोड दू " बस तुरत तुमलोगो को जान पडेगा कि और जो कुछ हो यह आदमी धोखा नहीं देगा, सिर के ऊपर वास्तव में इसकी नज़र है । पर अगर कोई कहे " आओ तो भैया ! धीरे धीरे तुम्हारे पीठ पर हाथ फेर दूँ ।" बस तुरत तुम लोगो को सन्देह हो जायगा, मानो सिर फोड देने की अपेक्षा पीठ पर हाथ फेरना अधिक बुरा है । हे भगवन् ! यदि राजा साफ साफ कहला भेजते कि, एक बार मेरे पास आओ तो सही ! तुम लोगो में से हर एक को पकड-पकड कर राज्य से निकाल दूँ तो तुम लोग ज़रा भी सन्देह न करते वर समझते कि राजकन्या से विवाह कर देने ही के लिये राजा ने बुलाया है । परन्तु राजा ने ज्योंही कहला भेजा कि–हे बान्धवो " राजद्वारे

श्मशानेच यः तिष्ठति सः बान्धवः" "अतएव तुमलोग पूजाके समय यहाँ आकर किंचित फलाहार कर जाओ" त्योंही तुम लोगों को सन्देह हुआ कि वह फलाहार न जाने कैसा होगा। हे मधुसूदन! पर हाँ, ऐसा होता ही है। बडे आदमियो को साधारण बातो में सन्देह होता है और साधारण आदमियो को बड़ी बातो में सन्देह होता है।

जय०—पण्डित जी! तुम बडे ही सरल चित्त के आदमी हो। मुझे जो कुछ सन्देह था तुम्हारी बातो से जाता रहा।

त्रिवेदी—हाँ, तुमने ठीक बात कही है। मैं तुम लोगो की तरह चतुर नहीं हूँ। सब बातो के तह तक नहीं पहुँच सकता, परन्तु भाई सब पुराणों और सहिताओं में जिसको कहते हैं "अन्ये परेका कथा" उसी के अनुसार चलता हूँ अर्थात् दूसरों के पचडे में कभी नहीं रहता।

जय०—और किस-किसको निमंत्रण देने के लिये तुम आए हो?

त्रिवेदी—तुमलोगों का विकट नाम मुझे याद नहीं रहता। तुमलोगों का काश्मीरी स्वभाव जैसा है वैसा ही तुमलोगों का नाम भी विकट है, हाँ इस राज्य में तुम्हारे गोल के जितने आदमी हैं सभी की बुलाहट है। शिव! शिव! कोई बाक़ी न रह जायगा।

जय०—अच्छा पण्डितजी, अब आप जाइये, विश्राम कीजिये।

त्रिवेदी—जो हो, तुम्हारे मन का सन्देह दूर होगया। यह सुनकर मंत्री बहुत ही प्रसन्न होंगे। श्रीहरि, मुकुन्द, मुरारे!

(प्रस्थान)

जय०—मिहिर गुप्त, सब बातें तो तुम समझ ही गये ? अब गौरसेन, युधाजित, उदयभास्कर, इन लोगो के यहाँ शीघ्र कहला भेजो कि सब लोग तुरत इस विषय पर परामर्श करने के लिये एकत्रित हो ।

मिहिर—जो आज्ञा ।

द्वितीय दृश्य

अन्तः पुर

विक्रमदेव और रानी के आत्मीय सभासद गण

सभासद—धन्य महाराज ! आप धन्य हैं ।

विक्रम—यह धन्यवाद मुझे क्यो दे रहे हो !

सभासद—महान् पुरुषो की कृपा सब पर होती है महत्व का यही लक्षण है । आप के सेवक जयसेन, युधाजित् इत्यादि जो प्रवास में पडे हैं, उनको भी आपने महोत्सव में याद किया है। जिसके कारण वे बड़े ही आनन्दित हैं और वे अपने दलबल के सहित शीघ्र ही यहाँ आ रहे है ।

विक्रम—इस छोटी सी बात के लिये इतना यशोगान करने की क्या आवश्यकता है ! मै तो यह भी नहीं जानता कि इस महोत्सव में किसे किसे निमंत्रण दिया गया है ।

सभासद—सूर्य्य के उदयमात्र से ही संसारकी सब वस्तुएँ आलोकित हो जाती है। इसके लिये उसे कुछ परिश्रम और उद्योग नहीं करना पडता और न इससे उसका कुछ हानि लाभ ही होता है । वह भी यह नहीं जानता कि उसकी कनक-किरण से कहाँ पर कौन से वृक्ष के नीचे कौनसा वनफूल आनन्द से

खिल रहा है। उसी प्रकार आप भी सब पर कृपा दृष्टि कर रहे हे। उसे जो पाते हैं वही अपने को धन्य समझते हैं।

विक्रम–ठहरो, ठहरो, बस बहुत हुआ। मैं जितनी कृपा-दृष्टि करता हूँ उससे कहीं अधिक स्तुति–वृष्टि सभासद गण करते हैं। अच्छा अब तो जितनी बातें तुमलोगो ने मुझे सुनाने के लिये गढी थीं वह सब कह न चुके। अब जाओ।

(सभासदों का प्रस्थान)

(सुमित्रा का प्रवेश)

कहाँ जाती हो रानी! एक बार मेरी ओर देखो। मैं इस पृथ्वी का राजा हूँ। केवल तुम्हीं मुझे दीन समझती हो। मेरा ऐश्वर्य देश देशान्तरों में फैला है। केवल तुम्हारे ही निकट मेरी वासना क्षुधार्त्त–भिक्षुक की तरह है। क्या इसी से राज-राजेश्वरी घृणा और घमण्ड से बार बार मुझसे दूर चली जाती है!

सुमित्रा—महाराज! आपके जिस प्रेम की चाहना समस्त पृथ्वी कर रही है, मैं अकेली उस प्रेम के योग्य कदापि नहीं हूँ।

विक्रम–मे अयोग्य हूँ! मैं दीन कापुरुष हूँ! मैं कर्त्तव्य-विमुख अन्त पुर में ही रहने वाला हूँ! परन्तु महारानी, तनिक सोच-कर देखो, क्या मेरा ऐसा ही स्वभाव था? क्या मैं क्षुद्र हूँ और तुम महान् हो? नहीं, नहीं, मैं अपनी शक्ति और योग्यता को जानता हूँ। मेरे इस हृदय में अजेय शक्ति विद्यमान् है, परन्तु मैंने उसे प्रेम के रूप में तुम्हें दे दिया है। वज्र की अग्निको विद्युत-रत्न-माला बनाकर मैंने तुम्हारे गले में पहिरा दिया है।

सुमित्रा—घृणा करो महाराज, मुझे घृणा करो, मेरे लिए वह भी अच्छा है। यदि मुझे सदा के लिये भूल जाओ, तो उसे भी

में सह लूगी, परन्तु इस तुच्छ नारी के लिये आप अपना समस्त पौरुष का विसर्ज्जन न कर डालिए ।

विक्रम—हा ! मेरे असीम प्रेम का इतना अनादर ! क्या तुम इस प्रेम को नहीं चाहती ? क्या विना चाहे ही मेरे इस प्रेम को तुम डाकुओ की तरह छीन नहीं रही हो ? उपेक्षा की छूरी से मेरे मर्म स्थानो को काटकर उसमें से रक्तसिक्त प्रेम निकालकर उसे धूल में फेंक देती हो । अय निर्मोही निष्ठुर ! पाषाण-प्रतिमा की तरह तुम्हारा मै जितना ही गाढ आलिगन करता हूॅ उतनी ही मेरे हृदय में चोट लगती है ।

सुमित्रा—यह दासी आपके चरणो में पडी है, आप जो चाहें सो करें । नाथ, आज इतना तिरस्कार क्यो कर रहे है ? इतना कठोर वचन क्यो कह रहे हैं ? न जाने मेरे कितने अपराधो को आपने क्षमा किया है, तव आज विना अपराध मेरे प्रति इतना क्रोध क्यो कर रहे हैं ?

विक्रम—प्रिये ! उठो, उठो, अपने स्निग्ध आलिंगन से इस तप्त हृदय की ज्वाला वुझा दो । तुम्हारे इन आॅसुओ में कैसा अमृत है, उनमें कितनी क्षमता है । और कितना प्रेम है । तुम्हारे कोमल हृदय में तीखी वातो के लगने से प्रेम की स्निग्धधारा वसे ही निकल रही है जैसे अर्जुन के वाण के लगने से पृथ्वी से पाताल-गंगा निकली थी ।

(नेपथ्य में)—महारानी !

सुमित्रा—(आॅसू पोछकर) देवदत्त ! क्या समाचार है ?

(देवदत्त का प्रवेश)

देव—इस राज्य के परदेशी सरदारो ने निमन्त्रण का अनादर कर दिया है, और वे विद्रोह करने के लिये तयार हो गये हैं ।

सुमित्रा—महाराज ! आपने सुना ?

विक्रम—देवदत्त ! अन्तःपुर मंत्रणा-गृह नहीं है।

देव—महाराज, मंत्रणागृह भी अन्तःपुर नहीं है, यदि वह अन्तःपुर होता तो वहाँ महाराज का दर्शन अवश्य मिलता।

सुमित्रा—ये ढीठ कुत्ते राज्यका जूठन खा खाकर सिर चढ़ गये हैं, इसीसे आज राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तुले हैं। ओह ! यह कैसा अहंकार है ! महाराज, अब अधिक सोचने का समय नहीं है। इसमें सोचने की बात ही कौनसी है ? सेना सहित जाकर इन खून के प्यासे कीड़ों को अपने चरणों से कुचल डालिये।

विक्रम—परन्तु सेनापति, शत्रुओं की ओर मिला है।

सुमित्रा—आप स्वयं जाइये।

विक्रम—मैं क्या तुम्हारा बलाय हूँ, तुम्हारा कुग्रह हूँ या हाथों में गड़ा हुआ कांटा हूँ कि मुझे तुम दूर करना चाहती हो ? महारानी ! मैं यहाँ से एक पग भी नहीं हिलूँगा। मैं सन्धि का प्रस्ताव भेजूंगा। किसने इन उपद्रवों को खड़ा कर दिया ? ब्राह्मण और रमणी ने मिलकर विल में सोते हुए सर्प को जगा दिया। यह कैसा खेल है ! जो अपनी स्वयं रक्षा नहीं कर सकते, वह विना कुछ सोचे विचारे दूसरों को विपत्ति में डाल देते हैं।

सुमित्रा—धिक्कार है इस अभागे राज्यको, धिक्कार है इन अभागी प्रजाओं को, और धिक्कार है इस राज्य की रानी मुझको।

(सुमित्रा का प्रस्थान)

विक्रम—देवदत्त, मित्रता का क्या यही पुरस्कार है ? मैं वृथा आशा कर रहा हूँ। राजा के भाग्य में विधाता ने प्रणय नहीं लिखा है। जैसे छाया-हीन पर्वत अकेला महाशून्य में

खड़ा रहता है, उस पर आँधी आक्रमण करती है, बिजली उसे वेधती है सूर्य्य उसकी ओर लाल आँखों से देखता है, पृथ्वी उसके पैरों को पकड़े रहती है, परन्तु वहाँ प्रेम कहाँ? उसी प्रकार राजा की महिमा भी नीरस और प्रेमहीन है। परन्तु राजा का हृदय भी दूसरे हृदय के लिये व्याकुल होकर रोता है। हा सखे ! मानव-जीवन में राजत्व की नकल करना विडम्बना मात्र है । यदि मेरा दम्भमय उच्च सिंहासन चूर्ण होकर भूमि के बराबर हो जाय, तो मैं फिर तुम लोगों को अपने हृदय के सन्निकट पा सकूं। बाल्य-सखा ! एकबार तुम भूल जाओ कि मैं राजा हूं और मित्र के हृदय की व्यथा, बाल्य सुहृद् के भाव से ही अनुभव करो।

देव—सखा, मेरे इस हृदय को तुम अपना ही समझो। केवल प्रेम ही नहीं, तुम्हारी अप्रसन्नता भी मैं सुख से सहूँगा। जैसे अगाध समुद्र अपना वक्षस्थल पसारकर आकाश के वज्र को सह लेता है, उसी प्रकार से तुम्हारी क्रोधाग्नि को भी मैं हृदय से ग्रहण करूँगा।

विक्रम—देवदत्त ! सुखके घोसले में विरह की आग क्यों लगाते हो? सुख-स्वर्गमें दुःख और हाहाकार को क्यों ला रहे हो?

देव—सखा ! घर में आग लग गई है, मैंने केवल उसका समाचार सुनाकर तुम्हें सुख की नींद से जगा दिया है।

विक्रम—इस जगाने से तो उस सुख-स्वप्न में मरना ही अच्छा था।

देव—महाराज यह आप क्या कह रहे हैं । इस विशाल राज्य के ध्वंस की अपेक्षा क्या तुच्छ स्वप्न-सुख आपको अधिक प्रिय है?

विक्रम—जो योगी योगासन में लीन है उसके निकट विश्व का प्रलय कहाँ है? यह संसार स्वप्न है। अर्द्ध शताब्दी के उपरान्त आजका सुख-दुःख किसे याद रहेगा? जाओ, जाओ देवदत्त! जहाँ तुम्हारी इच्छा हो जाओ। अपने हृदय को अपने ही हृदय से ढाढ़स मिलती है! देखूँ, घृणा और क्षोभ से रानी कहाँ चली गयीं?

(प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

देवीका मन्दिर

पुरुषवेशमें रानी सुमित्रा और बाहर अनुचर

सुमित्रा—जग-जननी माता! इस दुर्बल-हृदय-तनया को क्षमा करो। आज सब पूजा व्यर्थ हुई, केवल वही सुन्दर मुख, वही प्रेम पूर्ण दोनो आँखें, वही शय्या पर अकेले सोये हुये महाराज, याद आ रहे हैं। हाय मा! नारी-हृदय क्या इतना कठोर है? माता, दक्षयज्ञ में जब तू गई थी, पग पग पर तेरा हृदय अपने ही पैरो को पकड़कर व्याकुल होकर क्या तुझे पतिगृह की ओर लौट चलने के लिये नहीं कह रहा था? परन्तु उस कैलाश की ओर तेरा वह चरण-कमल नहीं लौटा! माता! उस दिन की बात याद करके देख! जननी, मैं रमणी-हृदय की बलि देने आई हूँ—रमणीका प्रेम-टूटे हुए कमल की तरह तेरे चरणो में चढाने आई हूँ। माँ तुम भी स्त्री हो, इस कारण स्त्रियो के हृदय को तुम जानती हो, जननी मुझे बलदो। रह रहकर राजगृह से सुनाई पडता है, लौट आओ रानी,

लौट आओ! प्रेमपूर्ण चिरपरिचित वही कण्ठ-स्वर सुनाई दे रहा है। मा, खड्ग लेकर मेरी राह रोक कर तुम खडी हो जाओ, कहो "तुम जाओ" राजधर्म जग उठे, राजा का यश उज्ज्वल हो, प्रजा सुखी हो, राज्य का मंगल हो, अत्याचार दूर हो, राज की यशोरश्मि से कलंक-कालिमा मिट जाये। तुम नारी हो, धराप्रान्त पर जहाँ कहीं स्थान पाओ, अकेली बैठकर अपने दुःख से आप ही आँसू बहाओ! पिता का सत्य-पालन करने के लिये रामचन्द्र वन गये थे, पति का सत्य-पालन करने के लिये मैं भी जाऊँगी। जिस सत्य की डोर में महाराज राज-लक्ष्मी के निकट बंधे हैं, उसे मैं इस सामान्य नारी के लिये व्यर्थ न होने दूँगी।

(बाहर एक पुरुष और एक स्त्री का आगमन)

अनुचर—कौन हो? तुम यहीं खड़े रहो।

पुरुष—क्यों भाई, क्या यहाँ भी हमें स्थान न मिलेगा?

स्त्री—क्या यहाँ भी रोक टोक है?

(सुमित्रा का मन्दिर के बाहर आना)

सुमित्रा—तुम कौन हो जी?

पुरुष—मिहिरगुप्त ने मेरे लडके को कैद करके मुझे निकाल दिया है। मेरा इस समय न कहीं ठौर है न ठिकाना। मरने के लिये भी कहीं स्थान नहीं है। इसी से हम मन्दिर में आये हैं, देवी के सामने धरना देंगे। देखें, वह हम लोगों की क्या गति करती है?

स्त्री—पर क्योंजी! तुम लोगों ने यहाँ भी रोक-टोक जारी रखा है? राजा का दरवाज़ा तो बन्द ही है, देवी जी का भी द्वार रोककर खडे हो?

सुमित्रा—नहीं माता, तुम लोग आओ। यहाँ तुम्हें कोई

भय नहीं है। तुम्हारे ऊपर किसने अत्याचार किया है?

पुरुप—उसी जयसेन ने। हम राजा के यहाँ अपना दुखड़ा सुनाने के लिये गये थे, पर राजा का दर्शन नहीं मिला। लौटे तो देखा हमारा घर-द्वार जला दिया गया है। और हमारे लडके को कैद कर रखा है।

सुमित्रा—(स्त्रीसे) क्यो माता तुमने रानी से जाकर यह सब क्यो नहीं कहा?

स्त्री—अजी! रानी ही ने तो राजा पर जादू कर दिया है। हम लोगो के राजा तो अच्छे हैं उनका दोप नहीं है, वह परदेशी रानी जब से आई है उसने तब से अपने नैहर के लोगो को राज्य में भर दिया है और प्रजाओं का खून चूस रही है।

पुरुप—चुपरह, भला तू रानी के बारे में क्या जानती है? भला जिस बात को जानती नहीं, उसे मुँह से क्यों निकालती है?

स्त्री—जानती हूँ, मैं जानती हूँ वह रानी ही तो बैठी बैठी राजा से हमलोगो की बुराई किया करती है।

सुमित्रा—ठीक कहती हो माता! वह रानी ही सब अनर्थों की जड है। पर वह अब बहुत दिनो तक वहाँ न रहेगी। उसके पाप का घडा अब भर गया है। यह लो अपनी शक्ति के अनुसार मैं तुम को कुछ देता हूँ—पर तुम्हारा सब दुःख दूर नहीं कर सकता।

पुरुप—अहा! तुम तो कोई राजकुमार जान पड़ते हो। जय हो!

सुमित्रा—बस अब देर नहीं, अभी जाऊँगी।

(प्रस्थान)

(त्रिवेदी का प्रवेश)

त्रिवेदी—श्रीहरि ! मैंने यह क्या देखा ! पुरुष वेश धारण करके रानी सुमित्रा घोड़े पर चढ़ी चली जाती हैं। मन्दिर में देवी की पूजा करने के बहाने आकर भागी जाती हैं। मुझे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई और सोचा ब्राह्मण बड़ा सरल हृदय है। जैसे सिर में इसके एक बाल भी नहीं दिखाई पडता वैसे ही इसके हृदय में भी बुद्धि का लेश नहीं है। इसलिये इस से एक काम करा लूँ। इसके मुख से राजा के निकट थोड़ी सी मीठी-मीठी बातें भेज दूँ। भाई, तुमलोग बने रहो ! जब तुम लोगों को कुछ काम हो इस बूढ़े त्रिवेदी को बुलाना और दान-दक्षिणा के समय देवदत्त तो हैं ही। दयामय ! हाँ मैं कहूँगा, खूब मीठी-मीठी बातें बनाकर कहूँगा। मेरे मुँह से मीठी बातें और भी मीठी हो जाती है। मधुसूदन ! महाराज मेरी बातें सुनकर कैसे खुशी होंगे ! बातों को जितनी ही बडी बनाकर कहूँगा उसे सुनने के लिये राजाका आग्रह उतना ही बढ़ता जायगा। मैं देखता हूँ कि मेरे मुँह से बडी बातें बडी अच्छी जान पडती है, उसे सुनने से लोगों को बडा आनन्द होता है। लोग कहते हैं ब्राह्मण सरल है। पतितपावन ! इस बार कितना आनन्द होगा, इसे मैं अभी कह नहीं सकता ! परन्तु शब्द-शास्त्रको एक बार उथल-पुथल कर डालूँगा। अहो ! आज कैसा कुसमय है। आज दिन भर देवपूजा में नहीं कर सका। इस समय कुछ पूजा पाठ में मन लगाऊँ। दीनबन्धु ! भक्त-वत्सल !

(प्रस्थान)

चतुर्थ दृश्य

प्रासाद

विक्रमदेव, मंत्री और देवदत्त

विक्रम—चली गई! राज्य छोड़ कर चली गई! इस राज्य में जितनी सेना, जितने दुर्ग, जितने कारागार, जितने लौह-शृंखल हैं, क्या ये सब मिलकर भी एक अबला के हृदय को बाँध कर नहीं रख सकते? बस यही राजा और उसकी महिमा है? यह कैसे आश्चर्य की बात है कि इतना प्रताप, इतनी सेना, इतना द्रव्य, सोने के खाली पींजडे की भाँति पड़ा रहे और उसमें से एक छोटी सी चिड़िया उड़ जाय!

मंत्री—हाय! हाय! महाराज! बाँध टूटे हुए जल-स्रोत की तरह चारो ओर से लोक-निन्दा फैल रही है।

विक्रम—चुप रहो मंत्री। लोक-निन्दा बार-बार क्यो कहते हो? निन्दा के बोझ से आलसी लोगों की जीभ कट कर क्यों नहीं गिर पडती? सूर्य के अस्त हो जाने पर यदि कीचड के गड्ढों से खराब भाप उठे तो उससे कुछ मेरा अन्धेरा बढ नहीं जायगा। वृथा लोक-निन्दा, लोक-निन्दा न करो।

देव—मंत्री! तेज से परिपूर्ण सूर्य की ओर भला कौन देख सकता है? इसी से जब ग्रहण लगता है, तब भूमण्डल के सभी लोग अपने दीन नेत्रों से उस दुर्दिन के दिन-नायक को देखने के लिये उत्सुक हो उठते हैं। अपने ही हाथों से कालिख पोते हुए शीशे के टुकड़े से आकाश के प्रकाश को भी काला देखते हैं। महारानी, माता जननी! क्या तुम्हारे अदृष्ट में यही था।

तुम्हारे शुभ्र यश में आज ग्रहण लगा है। हा, आज कैसा दुर्दिन है? जननी, तौ भी तुम तेजस्विनी सती हो। और ये दुष्ट निन्दुक नीच भिखारी है।

विक्रम—त्रिवेदी कहाँ गया? मंत्री उसको बुलाओ। उसकी सब बातें मै नहीं सुन सका। उस समय मेरा ध्यान दूसरी ओर था।

मंत्री—जाता हूँ, उसे बुला लाता हूँ।

(मंत्री का प्रस्थान)

विक्रम—अब भी समय है, अब भी सुधि मिलने से लौटा सकता हू। पर फिर सुधि! क्या इसी प्रकार मेरा जीवन बीतेगा? वह भागती फिरेगी और मै उसके पीछे-पीछे दौड़ा करूँगा? प्रेम का शृंखल हाथो में लिये राज और राजकाज सब छोड़कर क्या सदा मै रमणी के भागते हुए हृदय की ही खोज में फिरा करूँगा? भागो, भागो, हे नारी, गृहहीन, प्रेमहीन, विश्रामहीन, खुली पृथ्वीमें केवल अपनी ही छाया को साथ लिये रात दिन भागती रहो।

(त्रिवेदी का प्रवेश)

विक्रम—चले जाओ, दूर हो, तुम्हें किसने बुलाया है? ढीठ ब्राह्मण! मूर्ख! बार बार उसकी बात कौन सुनना चाहता है?

त्रिवेदी—हे मधुसूदन (जाना चाहता है)

विक्रम—सुनो, सुनो, दो चार बातें म पूछना चाहता हूँ। बताओ रानी की आँखों में आँसू थे?

त्रिवेदी—महाराज चिन्ता न कीजिये। मैंने आँखो में आँसू नहीं देखे।

विक्रम—झूठ ही बनाकर कहो ! अति तुच्छ करुणा से भरा हुआ दो शब्द झूठ ही कह दो ! हे ब्राह्मण, तुम वृद्ध हो, आँखो से तुम्हें दिखाई कम पड़ता है, फिर भी तुमने कैसे देख-लिया कि रानी के आँखो में आँसू नहीं थे? अधिक नहीं, केवल एक बूंद आँसू ! नहीं तो आँसुओ से भरी हुई आँखें हो, कम्पित कातर कण्ठ से आँसुओं से रुँधी हुई बातें ही सही, कुछ भी तो बताओ ! इतना भी नहीं ! सच कहो, झूठ कहो। नहीं नहीं, कुछ न कहो, कुछ न कहो ! चले आओ।

त्रिवेदी—श्रीहरि ! मधुसूदन तुम्हीं सत्य हो !

(त्रिवेदी का प्रस्थान)

विक्रम-हे अन्तर्यामी प्रभो ! तुम जानते हो उससे प्रेम करना ही मेरे जीवन का एक मात्र अपराध है। पुण्य गया, स्वर्ग गया, राज्य जा रहा है और अन्त में वह भी चली गयी ! तब हे प्रभो ! लौटा दो, मेरा वह क्षात्र-धर्म्म, राजधर्म्म मुझे लौटा दो, मेरे पराक्रमी हृदय को इस संसार-रूपी रंगभूमि में मुक्त कर दो ! बताओ प्रभो, कर्मक्षेत्र कहाँ है ? कहाँ है जनस्रोत ? कहाँ है जीवन-मरन ? कहाँ है मनुष्यो का अविश्राम सुख-दुःख सम्पत्ति-विपत्ति के तरंगो का उच्छ्वास—

(मत्री का प्रवेश)

मंत्री—महाराज ! घुड़सवारो को मैंने चारो ओर महारानी को खोजने के लिये भेजा है।

विक्रम—लौटा लो, लौटा लो मंत्री ! मेरा स्वप्न टूट गया। घुड़स्वार भला उसको कहाँ खोज सकेंगे ? सेना तैयार करो, मैं सग्राम में जाकर विद्रोहियो का नाश करूँगा।

मंत्री—जो आज्ञा, महाराज !

(प्रस्थान)

विक्रम—देवदत्त उदास क्यों हो? तुम्हारे आँखों में आँसू क्यो भरे हैं। तुच्छ सान्त्वना की बात न कहो। मुझे छोड़कर चोर चला गया है, मैं अपने आप को पा गया हूँ। सखा, आज आनन्द का दिन है। आओ सखे, मुझे भेंटलो।

(भेंटकर)

सखे, झूठी बात है यह रूपक झूठा है, रह रह के वज्रवाण मेरे हृदय के मर्म्म को वेध रहे हैं। आओ, आओ, सखे, तुम्हारे शोकाकुल हृदय में आँसू बहावें! जिससे बादल हट जाय।

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

काश्मीर–राजमहल–सामने राजपथ

द्वार पर शंकर

शंकर—जब नन्हासा था, मेरे गोद में खेला करता था। जब केवल चार दाँत निकले थे तब वह मुझे संकल दादा कहता था। अब बड़ा हो गया है, अब सकल दादा की गोद से काम नहीं चलना। अब राजसिंहासन चाहिये। स्वर्गीय महाराज मरती समय तुम दोनों भाई-बहिन को मेरी गोद में सौंप गये थे। बहिन तो दो दिन के बाद अपने पति के घर चली गई। सोचा था कि कुमारसेन को अपनी गोद से उठाकर सिंहासन पर ही बैठा दूंगा, परन्तु कुमार के चाचा महाराज

तो सिंहासन से उतरना ही नहीं चाहते। शुभ लग्न न जाने कितनी बार आई। परन्तु आज नहीं कल, करते करते न जाने कितना समय बीत गया। कितना बहाना, कितनी आपत्ति! अरे भाई संकलकी गोद और सिंहासन में बड़ा अन्तर है! बुड्ढा हो गया देखूं तुझे राजगद्दी पर बैठाकर जा सकता हूँ या नहीं।

(दो सैनिकों का प्रवेश)

१—हमारे युवराज राजा कब होंगे भाई? उस दिन मैं तुम सबको मद्दुआ खिलाऊँगा।

२—अरे तुम तो मद्दुआ खिलाओगे—पर मैं तो अपनी जान दूँगा, मैं लड़ाई करता फिरूंगा—मैं बहुतसे गाँव लूट लाऊँगा। मैं अपने महाजनों का सिर फोड़ दूँगा। अगर कहो तो मैं खुशी से युवराज के सामने खड़ा खड़ा मर जाऊँ।

१—ऐसा क्या मैं नहीं कर सकता? अरे मरने की बात क्या कहता है। मेरी यदि सवासौ वर्ष की उम्र (आयु) हो तो मैं युवराज के लिये रोज़ नियमपूर्वक दोनों वक्त दो बार मर सकता हूँ। इसके सिवा बलुआ अलग है।

२—अरे युवराज तो हमारे हैं। स्वर्गीय महाराज तो उनको हमीं लोगों को सौंप गये हैं। हमलोग उनको कंधे पर चढ़ाकर ढोल बजाते हुए राजा बना देंगे। हम किसी से डरेंगे नहीं।

१—हम चाचा महाराज से कहेंगे, आप सिंहासन से उतर जाइए, हम लोग अपने राजकुमार को राजगद्दी पर बैठाकर आनन्द करना चाहते हैं।

२—तूने सुना, इसी पूर्णिमा को युवराज का विवाह है।

१—इस बात को तो पाँच वर्ष से सुन रहा हूँ।

२—इस वार पाँच वर्ष पूरा हो गया है । त्रिचूड के राज घराने की यह रीति चली आ रही है कि वरको राजकन्या के अधीन पाँच वर्ष तक रहना पड़ेगा । उसके बाद राजकन्या की आज्ञा होने पर व्याह होता है ।

१—वाह भाई ! यह भला किस काम की रीति है । हम लोग क्षत्रिय हैं । हम लोगो में सदासे यही चला आता है कि ससुर के मुँह पर तमाचा लगाकर, लड़की का झोटा पकड कर उसे ले आना, दो घण्टो में सब साफ कर देना, जिससे और दस व्याह करने की फुरसत मिल जाय ।

२—जोधमल, उस दिन भला तू क्या करेगा, बता तो सही?

१—उस दिन मै भी एक व्याह कर डालूँगा ।

२—शाबास ।

१—मिहिरचन्द की लडकी देखने में बडी सुन्दर है। अहा ! कैसी सुन्दर उसकी आँखे है । उस दिन वितस्ता (नदी) में पानी भरने जा रही थी। मैंने उससे दो चार बातें करनी चाहीं। झट वह कडा उतारकर मारने दौडी। देखा कि उस की आँखो से उसका कडा अधिक भयानक है। इसलिये चट वहाँ से खिसक गया ।

गीत

(खम्माच झाव ताल)

तव नयनो की ही बलिहारी ।
बार बार मत देखो, जाओ ।
क्या करना कुछ इससे मारी ?
हाथों में यह मेरा मन है ।
निद्रा आती किसी न क्षण है ।
आई अब प्राणों की बारी ।
तव नयनो की ही बलिहारी ॥

२—शाबास भैया, शाबास।

१—वह देख, शंकर दादा बैठे हैं। युवराज यहाँ नहीं हैं, तो भी बुड्ढा सज-धजकर उसी द्वार पर बैठा है। पृथ्वी चाहे उलट जाये तो भी इस बुड्ढे के नियम में त्रुटि नहीं हो सकती।

२—आओ भाई, उससे युवराज को दो चार बातें पूछें।

१—पूछने से भला वह क्या जवाब देगा? भरत के राज्य में रामचन्द्र की खड़ाऊँ की तरह वह पड़ा रहता है। मुँह से बोलता भी नहीं।

२—(शंकर के पास जाकर) हाँ दादा, बताओ न दादा, युवराज राजा कब होंगे?

शंकर—तुम लोगों को इससे क्या मतलब है?

१—नहीं, नहीं, मैं कहता हूँ, हमलोगों के युवराज अब सयाने हुए, पर तौभी चाचा महाराज गद्दी से उतरते क्यों नहीं?

शंकर—इसमें दोष ही क्या है? लाख हो, पर वह युवराज के चाचा तो हैं न?

२—हाँ, यह तो ठीक है। परन्तु जिस देशका जैसा नियम। हमारे यहाँ का नियम है कि—

शंकर—नियम हम मान सकते हैं। तुम मान सकते हो। पर बड़े लोगों के लिये नियम कैसा? सभी लोग अगर नियम मानेंगे तब नियम बनावेगा कौन?

१—अच्छा दादा उसे जाने दो—पर पाँच वर्ष तक ठहर कर ब्याह करना, यह कैसा नियम है। मैं तो कहता हूँ ब्याह करना बाण लगने के समान है-बाण लगा और जन्मभर के लिये बिंध गया, फिर उसका कुछ सोच नहीं रहता। परन्तु दादा, पाँच वर्ष तक ठहरना, यह अचरज तो कुछ समझ में नहीं आता।

शंकर—तुम लोगों को अचरज होगा, इसलिये किसी देश का जो नियम है वह तो नहीं बदल सकता ? नियम तो कोई छोड नहीं सकता। ससार नियम से ही तो चल रहा है। जाओ जाओ, अधिक बको मत । यह सब बातें तुमलोगों के मुँह से अच्छी नहीं लगतीं।

१—जाता हूँ, भाई आज कल हमारे शंकर दादा का मिजाज़ अच्छा नहीं है । बिलकुल सूखकर पत्ते की तरह खड़खड कर रहा है।

(प्रस्थान)

(पुरुष वेष में सुमित्रा का प्रवेश)

सुमित्रा—तुम क्या शंकर दादा हो ?

शंकर—कौन हो तुम ? पुराने परिचित स्नेहमय स्वर से पुकारनेवाले तुम कौन हो ? पथिक कहो, तुम कौन हो ?

सुमित्रा—मैं परदेश से आया हूँ।

शंकर—यह क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ? क्या किसी मंत्र-बल द्वारा कुमार फिर बालक होकर शंकर के पास आया है ? ऐसा जान पड़ता है कि वही सन्ध्या समय, वही सुकुमार कुमार जिसके चरण-कमल कुम्हला गये हैं, देह क्लान्त हो गई है, खेल से थककर शंकर की गोद में विश्राम माँग रहा है।

सुमित्रा—जालन्धर से मैं कुछ समाचार लेकर कुमार के पास आया हूँ ।

शंकर—कुमार की बाल्यावस्था क्या आप ही कुमार के आयी है? लडकपन के खेलो की याद दिलाने के लिये क्या छोटी बहन ने भेजा है ? हे दूत, तुमने यह स्वरूप कहाँ

पाया? व्यर्थ में कितना वक गया। मुझे क्षमा करो। बताओ, बताओ क्या समाचार है, मेरी रानी बहिन अच्छी है? पति के सुहाग और रानी का गौरव पाकर सुखी है? प्रजा सुखी होकर उसे माता कहकर आशीर्वाद देती है? राजलक्ष्मी-अन्न-पूर्णा उसके राज्य में कल्याण तो कर रही है?

आह! मैं कैसा हूँ तुम राह चलते-चलते थक गये हो, चलो मेरे घर चलो। विश्राम के उपरान्त धीरे-धीरे सब समाचार कहना।

सुमित्रा—शंकर क्या अब तक तुम्हारे मन में रानी की याद बनी है?

शंकर—वही कण्ठ-स्वर है! वही स्नेह के भार से झुकी हुई कोमल दृष्टि है! यह कैसा छल है! दूत, क्या तुम मेरी सुमित्रा की छाया चुरा लाये हो। मैं उसे भूल गया हूँ, क्या यही सोचकर उसकी अतीत स्मृति मेरे हृदय से निकल कर मुझे छलने आई है? युवा! इस बूढ़े की मुखरता क्षमा करो। बहुत दिनों से मौन था, इसीसे न जाने कितनी बातें मुंह से निकल रही हैं। आँखों में आँसू भरे आते हैं। न जाने क्यों इतना स्नेह मेरे मन में तुम्हारे लिये उत्पन्न हो रहा है। मानो तुम मेरे चिर-परिचित हो। मानो तुम मेरे जीवन-धन हो।

(प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

त्रिचूड़-क्रीड़ा-कानन

कुमारसेन, इला और सखियाँ

इला—युवराज! आप जाना चाहते हैं। क्यों जाना चाहते हैं। क्या इला दो घडी से अधिक अच्छी नहीं लगती? छिः पुरुषो का हृदय इतना चञ्चल होता है!

कुमार—सब प्रजा।

इला—सब प्रजा क्या तुम्हें बिना देखे मुझसे अधिक व्याकुल होती है? जब तुम अपने राज में चले जाते हो, उस समय जान पड़ता है कि मैं इस ससार में अब नहीं हूँ। जब तक मुझे याद करते हो मैं तभी तक समझती हूँ कि मैं इस संसार में हूँ, अकेली मैं कुछ भी नहीं हूँ। तुम्हारे राज्य में न जाने कितने मनुष्य होगे, न जाने कितनी चिन्ताएँ तुम्हें रहती होगी और न जाने कामो की कितनी भीड तुम्हें रहती होगी, वहाँ सब कुछ है परन्तु यह क्षुद्र इला वहाँ नहीं है।

कुमार—वहाँ सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। परन्तु प्रिये, तुम न होने पर भी मेरे हृदय में रहती हो।

इला—झूठी बातें बनाकर कुमार, मुझे न फुसलाओ। तुम अपने राज्य के राजा हो परन्तु इस वन की मैं रानी हूँ, तुम प्रजा हो। कहाँ जाओगे? मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगी। ...ाँ आओ इन्हें फूल-पाश में बांध लो और गीत गाकर की चिन्ता छीन लो।

सखियों का गाना

(मिश्रमल्लार-एकताला)

प्रेमी आकर फिर क्यों जाता ? दर्शन दे क्यों रूप छिपाता ॥
प्रिया सुमन को सदा निरखती। व्याकुल चित हो प्रेम परखती ॥
वायु-वेग में उड़ना भाता। प्रेमी आकर फिर क्यों जाता ?
पकड़ो उसे, न भगने पावे। पिंजड़े में ही दिवस बितावे ॥
सुख-पक्षी भुलवा उड़ जाता। प्रेमी आकर फिर क्यों जाता ?
सुखदा रात पथिक बन आती। हँसकर के यह हमें सिखाती—
जाग, जाग, मैं तुझे मिलूँगी। वर्षों का श्रम क्षण में जाता ॥
प्रेमी आकर फिर क्यों जाता ?

कुमार—प्रिये, तूने मुझे क्या कर दिया! मेरा समस्त जीवन, मन, नयन और वचन केवल वासनामय होकर तेरी ओर दौड़ रहा है। मानो मैं अपने को मिटाकर तेरे देह में व्याप्त हो जाऊँगा, सुखस्वप्न होकर तेरे इन नयनपल्लव में मिल जाऊँगा, हास-विलास होकर तेरे अधर में शोभित होऊँगा, तेरी दोनों बाहों में ललित लावण्य की तरह लिपटा रहूँगा, इष्ट-मिलन सुख की तरह तेरे कोमल हृदय में लीन हो जाऊँगा।

इला—उसके उपरान्त अन्त में प्रियतम तुम्हारा वह स्वप्न-जाल सहसा टूट जायगा, अपना स्मरण आतेही तुम चले जाओगे और मैं टूटी वीणा की तरह भूमि पर पड़ी रहूँगी।
नहीं नहीं, सखे, यह स्वप्न नहीं है, यह मोह नहीं है, यह मिलन-पाश कभी न कभी बाहु से बाहु को, आँखो से आँखों को, हृदय से हृदय को और जीवन से जीवन को अवश्य बाँध देगा।

कुमार—इसमें तो अब देरी नहीं है। आज सप्तमी का अर्द्ध-

चन्द्र धीरे-धीरे पूर्ण चन्द्र होकर हमलोगो का वह पूर्ण मिलन देखेगा। कम्पित अनुराग से भरे हुए मिलन-सुख के बीच क्षीण विरह की बाधा का आज अन्त है। दूर रहने पर भी यह जान पडना कि हम दोनो अति निकट है, और समीप रहने पर भी यह जान पड़ना कि हम अत्यन्त दूर हैं, इसका आज अन्त है। अचानक भेंट होना, चकित होना, सहसा मिलना और विरह की पीडा का आज अन्त है। वन-मार्ग से धीरे-धीरे सूने घर की ओर लौटते समय हृदय मे सुख-स्मृति का उदय होना, मन में प्रत्येक बातो की सैकड़ो बार याद आना, इन सब बातो का आज अन्त है। हरबार प्रथम मिलन के समय सज्जित होकर मौन हो जाने का, विदाई के समय प्रतिबार आँखो से आँसू गिरने का आज अन्त है।

इला—अहा! ऐसाही हो! सुख की छाया से सुख अच्छा है, पर यदि दुःख हो तो वह भी अच्छा है। मृगतृष्णा से तृष्णा अच्छी। कभी मैं सोचती हूँ कि मैं तुमको पाऊँगी, कभी सन्देह होता है कि तुम्हें मैं न पाऊँगी, और कभी सन्देह होता है कि मैं तुम्हें खो दूँगी। कभी अकेली बैठी बैठी सोचती हूँ कि तुम कहाँ हो, क्या कर रहे हो, मेरी कल्पना वन-प्रान्त से विकल होकर लौट आती है, वन के बाहर का मार्ग मैं नहीं जानती, इससे तुम्हें खोज नहीं सकती। अब मैं तुम्हारे साथ सर्वदा समस्त भुवन में रहूँगी, कोई स्थान अपरिचित नहीं रहेगा। अच्छा बताओ, प्रियतम! क्या म तुम्हें कभी वश न कर सकूंगी?

कुमार—मैं तो अपनी इच्छा से तुम्हारे वश हो गया हूँ। फिर मुझे क्यो बांधना चाहती हो? भला बताओ तो तुमने नहीं पाया है, किसका तुम्हें अभाव है?

इला—जब मैं तुम से सुमित्रा की बातें सुनती हूँ, उस समय मेरे हृदय में व्यथा होती है। ऐसा जान पड़ता है कि उसने मुझे छलकर तुम्हारा शैशव अपने पास चुराकर छिपा रखा है। कभी जान पड़ता है कि यदि वह तुम्हारी बाल्यसहचरी लौटकर तुम्हें वहीं लड़कपन के खेलघर में बुला ले जाय, तो वहाँ तुम उसी के हो जाओगे, वहाँ मेरा अधिकार नहीं है। कभी कभी मुझे तुम्हारी सुमित्रा को एक बार देखने की बड़ी चाह होती है।

कुमार—अहा, यदि वह आती तो कितना सुख होता! आनन्दोत्सव के प्रकाश की भाँति अपने पितृभवन और शैशव-गृह को प्रकाशित करती। वह तुम्हें गहनो से सजाती, आदर से तुम्हें अपने गले लगाती, फिर छिपकर हँसती हुई हम दोनों का मिलन देखती। परन्तु अब क्या भला वह हमलोगो को याद करती होगी? पराये घर जाकर वह पराई हो गई।

इला का गाना

आप पराए बनते हैं, दुख दूर गैर का करते हैं।
अपना उन्हें बनाते हैं, और आप मुसीबत सहते हैं॥
बंशी की तान जब सुनते हैं, घर छोड़ भाग कर चलते हैं।
मरते हैं या जीते हैं पर प्यार गैर को करते हैं॥
मौत भी गर आ जाती है, तो ज़रा नहीं ये डरते हैं।
अपना आप भुलाते हैं और हरदम हँसते रहते हैं॥

कुमार--यह करुणा से भरा हुआ स्वर क्यों सुनाई पडता है ? यह दुःख से भरी हुई गीत क्यो गाती हो ? आँखें उदास क्यो हो गईं ?

इला—प्रियतम ! यह दुःख की गीत नहीं है। गहरा सुख दुःख की तरह उदास जान पडता है । दु·ख सुख का विचार त्यागकर स्त्रियों के लिये आत्म-विसर्जन करना ही परम सुख है ।

कुमार--तुम्हारे इस प्रेम से मैं इस पृथ्वी को भी वश कर सकूंगा। आनन्द-विह्वल होकर मेरा जीवन विश्व में उथल रहा है । श्रान्तिहीन कर्म सुख के लिये मेरा हृदय दौड रहा है। चिरस्थायी कीर्त्ति प्राप्त करके मैं तुमको उसकी अधिष्ठात्री देवी बनाऊँगा । अकेले विलास में बैठकर तुम्हारे इस अगाध प्रेम को आलसियो की तरह मैं भोग नहीं सकता।

इला—प्रियतम ! देखो ढेर के ढेर बादल उस उपत्यका से उठकर उस पहाड़ की चोटी को घेर रहे हैं । ऐसा जान पडता है कि सृष्टि का यह विचित्र लेख यह मिटा देंगे ।

कुमार—प्रिये, दक्षिण की ओर देखो। अस्त होते हुए सूर्य की किरणों से सुवर्ण-समुद्र की तरह समतल भूमि मानो किसी लापता विश्व की ओर चली जा रही है। अन्नक्षेत्र, वनश्रेणी, नदी, ग्राम सभी अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं-जान पडता है कि मानो सोने के चित्र-पटपर केवल नाना प्रकार के रंग भरे गये हैं, पर चित्ररेखायें अभी नहीं फूटी हैं । मानो मेरी आकांक्षा पहाड़ की ओर से पृथ्वी की ओर फैलती हुई अपने हृदय में कल्पना की स्वर्ण-लिखित फोटो लिये हुई चली जा रही है। अहा, वहाँ न जाने कितने देश, कितने नवीन दृश्य, कितनी नई कीर्त्ति और नयी रंगभूमि होगी ।

इला—अनन्त की मूर्त्ति धारण करके वह मेघ हमलोगों को ग्रासने के लिये आ रहे हैं! नाथ, निकट आओ! अहा, यदि सदा हम दोनों दो पक्षियों की तरह इस मेघरूपी घोसले में रहते तो कैसा अच्छा होता! प्रियतम, क्या तुम वहाँ रह सकते? मेघ का आवरण हटाकर पृथ्वी का आह्वान तुम्हारे कानों में ज्योंहीं पहुँचता, तुम मुझे अकेली छोड़कर दौड़ जाते और मैं प्रलय के बीचमें पड़ी रहती।

(परिचारिका का प्रवेश)

परि०—जालन्धर से एक दूत कोई गुप्त समाचार ले कर काश्मीर में आया है।

कुमार—तब जाता हूँ प्रिये, फिर आऊँगा, पूर्णिमा की रात को आकर अपने हृदय की चिरपूर्णिमा को ले जाऊँगा। इस समय तुम मेरी हृदय देवी हो, उस दिन गृह-लक्ष्मी होगी।

इला—जाओ नाथ! मैं अकेली तुम्हें कैसे रख सकती हूँ। हाय, मैं कितनी क्षुद्र हूँ! यह संसार कितना विशाल है, और तुम्हारा हृदय कैसा चंचल है। मेरे विरह को कौन समझेगा? मेरे आँसुओं की बूंदों को कौन गिनेगा? इस निर्ज्जन वन-प्रान्त में कातर-हृदया बालिका की मर्म्मवेदना का कौन अनुभव करेगा?

तृतीय दृश्य

काश्मीर-युवराज का महल

कुमारसेन और छद्मवेश में सुमित्रा

कुमार—बहिन, मैं अपने हृदय का भाव तुम्हें कैसे दिखाऊं? उन दुष्ट दस्युओं का दमन करने के लिये, काश्मीर के उन कलंकों को दूर करने के लिये मैं अभी सेना साथ लेकर चलना चाहता हूँ। एक क्षण भी मुझे युगसा जान पड़ता है। पर चाचाजी ने अभी तक आज्ञा नहीं दी। बहिन, इस छद्म-वेश को दूर करो, चलो, हम दोनो चलकर राजा के चरणों में गिरकर सब बातें कह दें।

सुमित्रा—भाई, यह कैसे हो सकता है? मैं तुम्हारे पास अपने मनका दुःख जताने आई हूँ। जालन्धर राज्य की रानी कुछ काश्मीर से भीख माँगने नहीं आई है! छद्म-वेश से मेरा हृदय जल रहा है। हा, मैं कैसी अभागी हूँ कि इतने दिनो बाद अपने को छिपाकर पिता के घर आई हूँ। वृद्ध शंकर को देखकर बार-बार मेरा गला आँसुओं से भर आया। इच्छा होती थी कि रोकर उससे कहूँ कि "शंकर, शंकर, देख तेरी वही सुमित्रा तुझे देखने के लिये आई है।" हाय वृद्ध, उस दिन तुमसे विदा होते समय कितना आँसू गिरा गई थी, किन्तु आज मिलती समय मिलन का अश्रुजल तुम्हें न दे सकी! भाई, आज मैं केवल काश्मीर की कन्या नहीं हूँ वरन् मैं जालन्धरकी रानी हूँ।

कुमार—बहिन, मैं समझ गया। जाकर कोई दूसरा उपाय करता हूँ।

चतुर्थ दृश्य

काश्मीर का महल–अन्तःपुर

रेवती और चन्द्रसेन

रेवती—जाने दो महाराज! बैठे बैठे क्या सोच रहे हो? इतना सोच करने का क्या काम? युद्ध में जाना चाहता है, जाने दो। उसके उपरान्त भगवान् करे वह युद्ध से लौटकर न आवे।

चन्द्र०—धीरे, रानी, धीरे!

रेवती—भूखी बिल्ली शिकार की ताक में बैठी थी, आज अवसर मिला है, क्या तो भी वह बैठी ही रहेगी?

चन्द्र०—चुप रहो रानी, कौन, कहाँ, किस के लिये बैठाथा?

रेवती—छीः छीः मुझसे छल करने से क्या होगा? मुझसे भला क्या छिपाओगे? यदि यह बात नहीं थी तो अब तक कुमार का व्याह क्यो नहीं किया? त्रिचूड राजा को ऐसी बेढंगी राय, कि पाँचवर्ष तक वर कन्या की आराधना करे, क्यो दी?

चन्द्र०—धिक्कार! चुप रहो, रानी, भला कोई किसी का अभिप्राय क्या समझ सकता है?

रेवती—तब भली भांति सोच लो, जो काम करना चाहते हो, सोच समझ कर करो। अपने ही निकट अपना उद्देश छिपा न रखो। देवता तुम्हारी ओर से आकर तुम्हारा काम नहीं कर जायगे। इसलिये मौका देखकर स्वयं उपाय करो। वासनाका उत्कट पाप मनमें संचित तो हो ही रहा है फिर उसपरसे विफलता का कष्ट क्यो सहते हो? बस अब कुमार को युद्ध में भेज ही दो।

चन्द्र०—काश्मीर के उपद्रवी दूसरे के राज्य में अपना
उगल रहे हैं, क्या तुम उनको फिर अपने राज्य में बु
चाहती हो ?

रेवती—इन बातों को सोचने के लिये अभी बहुत
पड़ा है । इस समय तो कुमार को युद्ध में भेज दो, पीछे
जायगा । प्रजा कुमार का राज्याभिषेक देखने के लिये
है, उसको इसी बहाने कुछ दिन ठहरने का अवसर
जायगा । इस बीच में न जाने कौन कौनसी घटनायें हो स
हैं, उस समय विचार कर लेना ।

(कुमार का प्रवेश)

रेवती—(कुमार से) युद्धमें जाओ, देर न करो, चा
ने आज्ञा देदी है । विवाहोत्सव फिर होगा । यौवन का
आलस्य में घर में बैठे हुए क्षय न करो ।

कुमार—जय हो, जननी तुम्हारी जय हो । अहा
कैसा सुखद समाचार है ! अब चाचाजी, आप अपने
से भी मुझे आज्ञा दीजिये ।

चन्द्र०—वत्स, जाओ, देखो सावधानी से रहना । व
मद से जान-बूझकर विपत्ति में कूद न पड़ना । आशी
देता हूँ, "रण में विजयी होकर अक्षय शरीर से अपने पित
राज्य में लौट आओ ।"

कुमार—माता आप भी मुझे आशीर्वाद दीजिये ।

रेवती—कोरी आशीर्वाद से क्या लाभ ? संसार में अ
बाहुबल ही अपनी रक्षा करता है ।

पञ्चम दृश्य

त्रिचूड़-क्रीड़ा-कानन

इला की सखियाँ

१ सखी—सखी ! रोशनी कहाँ कहाँ करोगी ?

२ सखी—मैं रोशनी के लिये नहीं सोच रही हूँ। रोशनी तो केवल एक ही रात होगी। मैं सोचती हूँ कि अबतक कुमार की बाँसुरी क्यों नहीं आई ? बाँसुरी न बजने से उत्सव फीका मालूम देता है।

३ सखी—कुमार बाँसुरी काश्मीर से लाने गये हैं, अब आते ही होंगे। कब बजेगी बहिन !

१ सखी—बजेगी भाई बजेगी, तेरे किस्मत में भी एक दिन बजेगी।

२ सखी—तू भी क्या बकती है ? भला क्या मैं इसी सोच में मर रही हूँ।

पहली सखी का गाना

अभी यहा पर बजेगी बंशी, वह धुन रमेगी हृदय में तेरे।
मिलेगा प्रीतम खिलेगा गुलशन, बहेंगे आनँद के नद घनेरे॥
यहा पै आकर जो रंग मचाती, धूमधाम से रास रचाती।
भूलेगी सब ये तेरी लीला, हृदय को प्रीतम रहेंगे घेरे॥

२ सखी—तू अपनी गीत बन्द कर। मेरा मन रह रह कर घबड़ा उठता है। जान पड़ता है कि रोशनी, आनन्द, बाँसुरी और गीत की धूम केवल एक ही रात के लिये होगी। उसके दूसरे ही दिन से सब अन्धकार में छिप जायगा।

१ सखी—रोने के लिये समय बहुत है बहिन आ, उत्सव के ये दो चार दिन तो हँस खेल कर बिता दें। फूल यदि सूखते नहीं तो मैं आज ही से माला गूँथने लगती।

२ सखी—मैं कोहबर (वासर गृह) सजाऊँगी।

१ सखी—मैं अपनी सखी को सजाऊँगी।

३ सखी—और मैं क्या करूँगी ?

१ सखी—अरे तू स्वयं अपने को सजालेना। देखना शायद युवराज का मन तू अपने पर मोहित कर सके।

३ सखी—तू तो भाई ऐसा करके भी देख चुकी है। फिर जब तू ही ऐसा न कर सकी तो मैं भला क्या ऐसा कर सकूँगी ? अजी, हमारी सखी को जिसने एक बार देख लिया है—उसका मन क्या कोई राह चलते चुरा सकता है ? वह देख बाँसुरी आगई। सुन, बज रही है।

पहिली सखी का गाना

गीत

मधुर धुन बाँसुरी बाजि रही।
दुविधामन अभिसार वेप सों, जात किते विरही॥
चारु सुगन्धित फूल खिल्यो कित, वायु बसन्त बही।
लोक लाज ते डरति नाथ मैं, फूल न मनहि सही॥

२ सखी—अरी चुप रह—वह देख युवराज कुमारसेन आरहे हैं।

३—चलो भाई हम तनिक ओट में चलकर खड़ी हो जायँ। न जाने क्यो मुझे युवराज के सामने होने में लज्जा सी लगती है।

२ सखी—पर बहिन, कुमार हठात् आज असमय आगये ?

१ सखी—अरी, इसके लिये समय और असमय कैसा? राजकुमार समझ कर क्या अनंग उनको छोड़ देगा?

३ सखी—चलो भाई चलें।

(ओट में हो जाना)

(कुमारसेन और इलाका प्रवेश)

इला—रहने दो नाथ, और अधिक मुझसे न कहो। काम है, राज छोडकर जाना होगा, इस कारण विवाह कुछ दिनो तक स्थगित रहेगा, इससे अधिक और मै क्या सुनूँगी?

कुमार—ऐसा ही विश्वास सदा मुझपर बनाये रखना। मन से ही मन पहिचाना जाता है, गहरा विश्वास प्राणो को पास खींच लाता है। इसी उपवन में, इस निर्झरनी के तट पर, इसी लता गृह में, सन्ध्या के प्रकाश में, पश्चिम आकाश में उस सन्ध्या तारा की ओर देखती हुई इस प्रवासी को याद करना। समझना कि मैं भी सन्ध्या समय परदेश में पेड़ के नीचे अकेला बैठा हुआ उसी तारे में तुम्हारे आँखो का तारा देख रहा हूँ। समझना कि उस नीले आकाश में फूलो के सौरभ की तरह तुम्हारा और मेरा प्रेम मिल रहा है-दोनों की विरह रजनी में एक ही चन्द्रमा उदय हुआ है।

इला—मैं जानती हूं नाथ जानती हूँ, मैं तुम्हारे हृदय को जानती हूं।

कुमार—जाता हूं, प्रिये! तुम्हीं मेरी सब कुछ हो।

(प्रस्थान)

(सखियों का प्रवेश)

२ सखी—हाय, यह क्या सुनती हूँ?

३ सखी—सखी, जाने क्यो दिया?

१ सखी—अच्छा ही किया। स्वयं न जाने देने से प्रियतम

बन्धन तोडकर सदा के लिये चला जाता है। हा, सखी हा अन्त में क्या उत्सव के इन दीपो को बुझाना पडेगा?

इला—सखी चुप रहो, हृदय फटा जाता है! उन दीप-मालाओ को बुझादो, बुझादो। बताओ सखी, उस लज्जाहीन पूर्णिमा के उजाले को कौन बुझावेगा? आज मुझे ऐसा क्यो जान पडता है कि मेरे जीवन का सुख दिन के साथ ही साथ पश्चिम में डूब गया? पर हा, इसी प्रकार अपने अस्त होने की राह में छाया की तरह इला को साथ क्यो नहीं ले गया?

चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य

जालन्धर-रणक्षेत्र-शिविर

विक्रमदेव और सेनापति

सेना—शिलादित्य और उदय भास्कर कैद हो गये हैं, केवल युधाजित अपनी सेना को लेकर भाग गया है।

विक्रम—तब तम्बू उठाओ, चलो जल्दी उसका पीछा करो। मनुष्यो का यह आखेट मुझे अच्छा लगता है। एक के बाद दूसरे गॉव, नदी, वन और पर्वतो को लॉघते हुए रात दिन हाफते दौड़ते हुए अनेक कौशल और चतुराई से भरा हुआ यह खेल खेलना मुझे बड़ा प्रिय है। सेनापति! विद्रोहियों में और कौन कौन से बचे हैं?

सेना—सिर्फ जयसेन, विद्रोहियों का नेता वही है। सैन्य-उसकी सबसे अधिक है।

विक्रम—तव चलो सेनापति, उसी के पास चलो। छोटी छोटी लड़ाइयों में यह क्षुद्र विजय और अस्त्रों की यह मृदु झनझनाहट मुझे अच्छी नहीं लगती है। मैं छाती से छाती में बाहों से बाहों में अति तीव्र प्रेम आलिंगन की तरह घोर संग्राम चाहता हूँ।

सेना—पता लगा था कि वह चुपचाप पीछे से आकर आक्रमण करेगा। परन्तु जान पड़ता है कि वह डर गया है और सन्धि-प्रस्ताव करने के लिये उत्सुक है।

विक्रम—धिक्कार है उस भीरु, कापुरुष को। मैं सन्धि नहीं, युद्ध चाहता हूँ, जिसमें रक्त से रक्त के मिलने का स्रोत बहता है और जहाँ शस्त्रों से शस्त्रों के मिलने का संगीत सुनाई पड़ता है। सेनापति, अब चलो।

सेना—जो आज्ञा महाराज। (प्रस्थान)

विक्रम—यह कैसी मुक्ति है। यह कैसा छुटकारा है। मेरे हृदय में आज कैसा आनन्द है। अबला की क्षीण बाहों से बँधा हुआ मैं कैसे प्रबल सुख से वंचित होकर पड़ा था। मेरा हृदय संकीर्ण अन्धकारमय गंभीर पथ को खोजता हुआ धीरे धीरे रसातल की ओर चला जारहा था। आज उससे मेरा छुटकारा होगया। कैदी को छोड़कर शृंखला स्वयं टूट गई। अबतक संसार में कर्म के प्रवाह में कितना युद्ध, कितनी सन्धि, कितनी कीर्त्ति, कितना आनन्द वह रहा था, पर मैं फूल की कली में सोये हुए कीड़े की तरह अन्तःपुर में बन्द पड़ा था। लोकलाज कहाँ थी, वीर पराक्रम कहाँ था, यह विपुल विश्व की रंगभूमि कहाँ थी? हृदय का पराक्रम कहाँ था? आज मुझे दीन कापुरुष, अन्तःपुर में रहनेवाला कौन कहेगा? त्रिविध समीर ने आज प्रबल आँधी का रूप धारण

किया है। उस तुच्छ प्रेम से यह प्रबल हिंसा अच्छी है। प्रलय तो विधाता का परम आनन्द है।

(सेनापति का प्रवेश)

सेना—विद्रोही सेना आरही है।

विक्रम—चलो, अब शीघ्र चलो।

(गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—राजन्, विद्रोहियों की सेना निकट आगई है। पर न तो कोई बाजा है न निशान है और न कुछ युद्ध का कोलाहल है। इससे जान पडता है कि विद्रोही क्षमा मॉगने के लिये आरहे है।

विक्रम—क्षमा की बात मै नही सुनना चाहता। पहले मै अपने अपयश को रक्त से धो डालना चाहता हूँ।

[द्वितीय चरका प्रवेश]

द्वितीयचर—शत्रुके शिविर से एक पालकी आरही है। मालूम होता है कि सन्धिका प्रस्ताव लेकर उसमें कोई दूत आ रहा है।

सेना—महाराज, क्षणभर ठहर जाइये, शत्रुका दूत क्या कहता है उसे तनिक सुन लिया जाय।

विक्रम—उसके उपरान्त युद्ध।

[सैनिक का प्रवेश]

सैनिक—युधाजित और जयसेन को बन्दी करके उनको लिये हुए महारानी आई हैं।

विक्रम—कौन आया है?

सैनिक—महारानी।

विक्रम—महारानी! कौन महारानी?

सैनिक—हमलोगो की महारानी।

विक्रम—पागल, उन्मत्त ! जाओ, सेनापति, जाकर देख आओ कि कौन आया है।

(सेनापति इत्यादि का प्रस्थान)

महारानी आई है-युधाजित और जयसेन को कैद करके ! यह क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ ! यह क्या रणक्षेत्र नहीं है ? यह क्या अन्तःपुर ही है ? अबतक क्या मैं युद्ध का स्वप्न देख रहा था ? अकस्मात् जाकर आज क्या मैं वही पुष्पवन, वही पुष्पशय्या और वही आलस्य से भरा हुआ दिन, निद्रा और जागरण से मिली हुई रात्रि देखूँगा ? कैद कर लाई है किसको ! मैं आज यह क्या सुन रहा हूँ ? महारानी क्या मुझे बन्दी करने आई है ?

[सेनापति का प्रवेश]

सेनापति—महारानी काश्मीर से सेना साथ लेकर अपने सहोदर भ्राता कुमार सेन के साथ आई हैं। राह में ही भागते हुए युधाजित और जयसेनको परास्त करके कैद कर लाई है। बाहर शिविरके द्वारपर आप से भेंट करने के लिये ठहरी हैं।

विक्रम—सेनापति भागो, भागो ! चलो चलो, सेना लेकर क्या और कहीं शत्रु नहीं हैं ? क्या और कोई विद्रोही नहीं है ? भेंट किसके साथ ? रमणी से भेंट करने का यह समय नहीं है।

सेना—महाराज।

विक्रम—चुप रहो सेनापति, जो मैं कहता हूँ उसे सुनो। द्वार बन्द कर दो, इस शिविर में पालकी आने की मनाही कर दो।

सेना—जो आज्ञा।

द्वितीय दृश्य

देवदत्त की कुटी

देवदत्त और नारायणी

देव—प्रिये, अब मुझे आज्ञा हो-यह दास विदा हो ।

नारायणी—तो जाते क्यों नहीं, क्या मैं तुमको बाँध रखे हूँ ?

देव—बस, इसीसे तो कहीं मेरा जाना नहीं होता । विदा होने में भी सुख नहीं । अच्छा मै जो कहता हूँ सो करो । वहीं, उसी जगह पछाड़ खाकर गिरपडो और कहो, हा हतोस्मि ! हा भगवती भवितव्यते ! हा भगवन् ! पंचशर !

नारा—व्यर्थ वक वक न करो । मेरी सौगन्ध, सच बताओ, कहाँ जाओगे ?

देव—राजा के पास ।

नारा—राजा तो युद्ध करने गये हैं । क्या तुम भी युद्ध करोगे ? द्रोणाचार्य हो गये हो ?

देव—तुम्हारे रहते भला मैं युद्ध करूँगा ? जो हो अब मैं जाऊँगा ।

नारा—वार वार तो वही एक ही बात सुन रही हूँ, जाऊंगा जाऊँगा तो जाते क्यों नहीं ? किसने तुम्हें अपने सिरकी कसम देकर पकड रखा है ?

देव-हाय ! मकरकेतन, यहाँ तुम्हारे पुष्पशरसे कुछ काम नहीं होगा । भयंकर शक्ति-शेल छोड़े विना मर्म्म स्थान तक नहीं पहुँचेगी । मैं कहता हूँ हे शिखरदशना, पक्व बिम्बाधरोष्ठी, आँखो से तुम्हारे कुछ आँसू वाँसू गिरेंगे या नहीं ? अगर गिरे तो उसे झटपट गिरा दो—मैं जाऊँ ।

नार—घाह रे अभाग्य! भला आँखो से आँसू किस दुःख से गिराऊँगी? पर हाँ जी, विना तुम्हारे गये क्या राजा का युद्ध नहीं चल सकेगा? तुम क्या महावीर धूम्रलोचन होगये हो?

देव—मेरे विना गये राजा का युद्ध नहीं रुकेगा। मंत्री बार बार लिख रहे हैं कि राज्य नष्ट हो रहा है परन्तु महाराज किसी प्रकार भी युद्ध छोडना नहीं चाहते। इधर विद्रोह भी बिलकुल थम गया है।

नारा—विद्रोह ही यदि थम गया तो महाराज किससे युद्ध करने जायँगे?

देव—महारानी के भाई कुमारसेन के साथ।

नारा—वाह, यह कैसी बात! साले के साथ युद्ध? क्या राजाओ में इसी प्रकार हंसी-ठट्ठा हुआ करता है। हमलोग होते तो सिर्फ कान मल देते। क्यों ठीक है न?

देव—यह सिर्फ हँसी-ठट्ठा नही है। महारानी कुमारसेन की सहायता से जयसेन और युधाजित को युद्ध में कैद करके महाराज के पास ले आई। महाराज ने उनको अपने शिविर में प्रवेश करने से रोक दिया है।

नारा—हैं यहाँ तक! तो तुम अबतक गये क्यो नहीं? यह खबर सुनकर भी बैठे हो? जाओ, जाओ, अभी जाओ। हमारी ऐसी सती साध्वी रानी का अपमान! जान पडता है, राजा के शरीर में कलियुग ने प्रवेश किया है।

देव—विद्रोही कैदियों ने राजा से कहा है, महाराज, हम लोग आप ही की प्रजा हैं। यदि कुछ अपराध करें तो आप हम को सजा दें। परन्तु कोई परदेशी आकर हमारा अपमान करे तो इससे आप ही का अपमान होगा। लोग समझेंगे कि आप स्वय अपने राज्य का शासन नहीं कर सकते। एक मामूली

युद्ध के लिये भी काश्मीरसे सेना आई, इससे बढकर उपहास और क्या हो सकता है? इन बातों को सुनकर महाराजने मारे क्रोध के लाल होकर कुमारसेन के पास एक दूत भेजकर कुछ कडी कडी बातें कहला भेजीं। कुमारसेन भी उद्धत युवा पुरुष ठहरे, भला ऐसी बातें चुपचाप कैसे सह लेते? जान पडता है कि उन्होने भी दो चार कडी बातें दूत को सुनाई होंगी।

नारा—यह तो कोई बुरी बात नहीं है। बातें चल रही थीं चलने देते। राजा के पास तुम नहीं रहते तो क्या राजा को दो बातें भी नहीं सूझतीं? बातें बन्द करके शस्त्र चलाने की क्या जरूरत! इतने ही में तो राजा की हार हो गई।

देव—असल बात यह है कि राजा युद्ध करने का एक बहाना खोज रहे हैं। राजा अब किसी प्रकार भी युद्ध छोड़ना नहीं चाहते। अनेक प्रकार का बहाना ढूँढ रहे हैं। साहस करके राजा को अच्छी राय दे ऐसा कोई मित्र राजा के पास नहीं है। इसलिये अब मैं नहीं ठहर सकता, मैं जाता हूँ।

नारा–जाने का मन हो तो जाओ, पर देखो मैं अकेली तुम्हारी गृहस्थी न सम्हाल सकूंगी। यह मैं पहले ही से कहे देती हूँ। यह लो तुम्हारा सब काम पड़ा है। मैं वैरागिन होकर निकल जाऊँगी।

देव—ठहरो, पहले मैं लौट आऊँ, उसके बाद तुम जाना। कहो तो मैं न जाऊँ

नारा—नहीं नहीं, तुम जाओ। मैं क्या सचमुच तुमको रहने के लिये कहती हूँ। अजी, तुम्हारे चले जाने पर मैं मर न जाऊँगी, उसके लिये सोच न करो। मेरे दिन मजे में कट जायँगे।

देव—यह क्या मै नहीं जानता। मलय समीर तुम्हारा

कुछ बिगाड नहीं सकेगा। विरह तो मामूली सी बात है, वज्र भी तुम्हारा कुछ बिगाड नहीं सकेगा।

(जाना चाहता है)

नारा—हे भगवन् राजा को सुमति दो! जिससे वह शीघ्र लौट आवें।

देव—इस घर को छोड़कर मैं कभी कहीं नहीं गया। इन लोगो की रक्षा करना प्रभो!

(प्रस्थान)

तृतीय-दृश्य

जालन्धर—कुमारसेन का शिविर

कुमारसेन और सुमित्रा

सुमित्रा—भैया, राजा को क्षमा करो, यदि क्रोध करना हो तो मेरे ऊपर कर लो। यदि मैं बीच में न होती तो तुम युद्ध करके अपना वीर नाम सार्थक करते। युद्ध की ललकार सुन कर भी तुम मेरे कारण अचल रहे। मैं जानती हूँ कि अपमान रूपी बाण मृत्युपर्यन्त मानियों के हृदय को व्यथित करता है। हा! मैं कैसी हत-भागिनी हूँ कि अपने भाई के हृदय में ऐसा भयङ्कर अपमान-शर बिंधते हुए देख रही हूँ। भाई, इससे तो मृत्यु ही अच्छी थी।

कुमार—बहिन, तुम तो जानती हो कि युद्ध करना वीरों का धर्म्म है, परन्तु क्षमा करना उससे कहीं बढ़कर वीरता है। भला महद् जनों के सिवा अपमान को कौन सह सकता है?

सुमित्रा—धन्य हो, भाई, तुम धन्य हो; यह जीवन में

तुम्हारे लिये अर्पण करती हू , परन्तु तुम्हारा यह स्नेह-ऋण परिशोध मैं प्राण देकर भी नहीं कर सकती। भाई, तुम वीर हो, तुम उदार हो और तुम्हीं नर-समाज के सच्चे नरपति हो।

कुमार—मैं तेरा भाई हूँ! चल वहिन, अपने उसी तुषार शिखर से घिरे हुए शुभ्र सुशीतल आनन्दकानन के शैलगृह में चल। उस उच्च शिखर पर जहां हम दोनो भाई वहिन वचपन में खेलते कूदते थे, तू क्या फिर न चलेगी?

सुमित्रा—चलो, भाई, चलो। जिस घर में हम दोनो भाई वहिन खेला करते थे, उसी घर में तुम अपनी प्रेयसी को ले आओ। सन्ध्या समय वहीं वैठ कर उसको तुम्हारे मन माफिक सजाऊँगी। उसको सिखा दूँगी कि तुमको कौन कौन सा फूल, कौन कौन सी गीत, और कौन कौन सा काव्य अच्छा लगता है। तुम्हारे वाल्यावस्था की वातें, तुम्हारे लडकपन का महत्व उसे सुनाऊँगी।

कुमार—लडकपन की वातें मुझे आज भी याद आ रही हैं, हम दोनो वीणा वजाना सोखते थे। मैं जव घवड़ा कर भाग जाता था, तू अकेली सन्ध्या समय वैठी वैठी अपनी छोटी छोटी अँगुलियो से सगीत को अपने वश में किया करती थी।

सुमित्रा—मुझे भी याद है। खेल से लौट कर तुम मुझे अद्भुत कल्पित कहानियाँ सुनाते थे, कि अमुक नदी के तीर पर आज मैंने स्वर्गपुर देखा है, वहाँ कल्पवृक्ष के कुंज में अमृत का मधुर फल फलता है इत्यादि। मैं विस्मित होकर उन कहानियो को सुनती थी और रात को भी स्वप्न में उसी स्वर्ग पुरी को देखती थी।

कुमार—उन कल्पित कहानियों को कहते कहते मैं स्वयं

भूल जाता था। सच और झूठ एक साथ मेघ और पहाड़ की तरह एक में मिल जाते थे। कहते कहते मुझे वास्तव में पहाड़ी के उस पार स्वर्गपुरी दिखाई पडने लगती थी। वहिन, शंकर आ रहा है। देखें क्या समाचार लाया है।

[शंकर का प्रवेश]

शंकर—प्रभु मेरे राजा, इस वृद्ध शंकर को क्षमा करो। रानी वहिन मुझे क्षमा करो। मुझे तुमने दूत बनाकर वहाँ क्यों भेजा? मैं वृद्ध हूँ, बातें बनाकर बोलने में मैं चतुर नहीं हूँ। मैं क्या तुम्हारा अपमान सह सकता हूँ? शान्ति का प्रस्ताव सुनकर जिस समय नीच जयसेन हँसने लगा, हँस हँसकर भृत्य युधाजित तीव्र उपहास करने लगा, भौंहें चढ़ा कर जालन्धर-राज विक्रम देव ने तुमको बालक और भीरु कहा, उस समय मुझे ऐसा जान पड़ा कि जितने सदस्य वहाँ बैठे हैं परस्पर एक दूसरे का मुख देखकर हँस रहे हैं। यहाँ तक कि जो लोग मेरे पीछे बैठे थे उनकी भी हँसी मानो सर्प की तरह मेरी पीठ में डसने लगी। उस समय मैंने तुमसे जितनी शान्ति-पूर्ण मधुर बातें सीखी थीं, भूल गया। क्रोध में भरकर मैंने कहा "तुम लोग कलह को वीरता समझते हो, इस कारण तुम लोग औरत हो, क्षत्रिय वीर नहीं हो। इसी कारण मेरे राजा कुमारसेन तलवार म्यान में रखकर अपने देश में लौटे जा रहे हैं।" मेरी इन बातों को सुनते ही जालन्धर-पति क्रोध से कांप उठे। उनकी सेना युद्ध के लिये तैयार हो रही है।

सुमित्रा—भाई, क्षमा करो।

शंकर—क्या यही तुम्हारे लिये उचित है? तुम काश्मीर-तनया होकर क्या काश्मीर का अपमान समस्त भारत में

कराओगी ? वीर धर्म से अपने भाई को विमुख न करो, यही मेरी विनती है।

सुमित्रा—बस करो, बस करो शंकर। भाई क्षमा करो ! मैं तुम्हारे पैरो पड़ती हूँ, भाई, यदि तुम अपनी रोष की आग बुझाना चाहते हो तो लो मेरे हृदयरक्त से बुझालो। भाई, चुप क्यो हो ? बाल्यकाल से ही मैं ने बिना मागे तुम्हारा स्नेह पाया है। आज मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ।

शंकर—सुनो, प्रभो !

कुमार—चुप रहो वृद्ध ! जाओ सेना से कह दो कि अभी काश्मीर की ओर तुरन्त लौटना होगा।

शंकर—हाय ! इससे बढकर अपमान और क्या होगा ? संसार में लोग तुम्हें भीरु कापुरुष कहेंगे।

सुमित्रा—शंकर, एकबार तू हम लोगो के बचपन की बात याद करके देख। छोटे छोटे दो भाई बहिन को तूने अपनी गोदमें स्नेह पाश से बाँध रखा था। क्या आज यश और अपयश तुझे उस स्नेह से अधिक जान पडता है ? सदा के लिये हृदय का यह सम्बन्ध पिता, माता, और विधाता के आशीर्वाद से घिरे हुए स्नेह तीर्थकी भांति पवित्र है। क्या इस पवित्र कल्याण-भूमि को बाहर से हिमाग्नि लाकर उसकी कारिख से मलिन किया चाहता है ?

शंकर—चलो बहिन, चलो उसी शान्ति क्षुधा से परिपूर्ण बाल्य-भूमि में लौट चलें।

चतुर्थ दृश्य

विक्रम देव का शिविर

विक्रम, युधाजित और जयसेन

विक्रम—भागे हुए शत्रु पर आक्रमण करना क्षात्र धर्म नहीं है ।

युधाजित—भागा हुआ अपराधी यदि सहज में ही छूट जाय तो फिर उसे दंड देने की आवश्यकता ही क्या है ?

विक्रम—वह बालक है, उसे यथेष्ट दण्ड मिल चुका । अपमानित होकर भागना–इसके बढ़कर और कौनसी सजा हो सकती है ?

युधा—पहाड़ो से घिरे हुए काश्मीर के बाहर उसका सब अपमान पड़ा रहेगा । वहाँ उसके कलंक की बात कौन जानेगा ? वहां तो सब लोग उसे युवराज ही समझेंगे ।

जय—चलिये महाराज उसी काश्मीर में चलकर हम अपराधी को दण्ड दे आवें और उसके राजसिंहासन में सदा के लिये कलंक की छाप लगा आवें ।

विक्रम—तुम लोगों की यही इच्छा है, तो चलो । जितना सोचो उतनी ही चिन्ता बढ़ती है, इसलिये इस समय मैंने अपने को कार्य-स्रोत में बहा दिया है । देखूं, कहाँ तक बहकर जाता हूँ और कहाँ किनारा मिलता है ।

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे—महाराज, ब्राह्मणकुमार देवदत्त आप से मिलने आये हैं ।

विक्रम—देवदत्त ! ले आओ, उसे ले आओ । नहीं नहीं, ठहरो । तनिक विचार लू कि ब्राह्मण किसलिये आया है ? उसको मै भली प्रकार जानता हूँ, वह मुझे युद्ध से लौटाने के लिये आया है ? हाय ब्राह्मणो ! तुम्हीं लोगो ने मिलकर बांधको तोड दिया, अब वह प्रबल स्रोत क्या तुम्हारी आवश्यकता-नुसार सिर्फ खेतो को सींचकर, पालतू प्राणीकी तरह लौट जायगा ? नहीं नही, वह बस्तियो को बिना उजाड़े, गॉव और शहर के बिना नष्ट किये न छोड़ेगा । अब परामर्श और उपदेश तुम अपने पास रखो । मैं तो कार्य के वेग से अविश्राम गतिका सुख पाने के लिये उसी प्रकार दौड़ रहा हूँ । जैसे बढी हुई महानदी पत्थरो की रुकावट को तोड़ कर बड़े वेग से बढती है । प्रबल आनन्द अन्धा होता है, उसकी आयु क्षण भर की ही होती है, पर उतनी ही देर में वह अनन्त सुख को उसी प्रकार ले आता है जैसे मतवाला हाथी अपनी सूँड़ से कमल के फूल को । विचार और विवेक पीछे हुआ करेगा । जाओ, कह दो, इस समय में ब्राह्मण से मिलना नहीं चाहता ।

जय—जो आज्ञा ।

युधा—(अलग जयसेन से) ब्राह्मण को अपना शत्रु समझो और उसे कैद कर लो ।

जय—मै उसे भली भांति जानता हूँ ।

पञ्चम अंक

प्रथम दृश्य

काश्मीर का राजमहल

रेवती और चन्द्रसेन

रेवती—लड़ाई की तैयारी! क्यों किस लिये? शत्रु कहाँ है यह तो मित्र है! आदर के सहित उसे बुला लो। वह यदि काश्मीर पर अधिकार करना चाहे तो करने दो। राज्य की रक्षा के लिये आप इतने व्यग्र क्यों हैं? यह क्या आपका निजी राज्य है? पहिले उसे इस राज्य पर अधिकार कर लेने दो फिर मित्रता करके उससे यह राज्य लौटा लेना। तब यह पराया राज्य आप ही का हो जायगा।

चन्द्र—चुप रहो रानी, इस प्रकार बार बार न कहो। पहिले मैं अपना कर्तव्य पालन करूँगा फिर देखा जायगा जो भाग्य में लिखा होगा वही होगा।

रेवती—आप जो कुछ करना चाहते हैं, मैं उसे जानती हूँ। लड़ाई का बहाना करके आप हार मान लेना चाहते हैं। इसके उपरान्त चारो ओर बचाते हुए मौका देख कर चतुराई से अपना मतलब निकालना चाहते हैं।

चन्द्र—छि छि! रानी, इन बातों को मैं जब तुम्हारे मुँह से सुनता हूँ तब स्वयं मुझे अपने ही ऊपर घृणा होती है। जान पड़ता है कि मैं वास्तव में ऐसा ही पाखण्डी और नीच

हूँ। मैं तुमसे विनती करके कहता हूँ कि मुझे कर्तव्यपथ से विचलित न करो।

रेवती--यदि आप अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहते हैं, तो मैं भी अपना कर्त्तव्य पालन करूँगी। गला घोटकर अपने ही हाथों से अपने सन्तानों को मार डालूंगी। यदि आप उनको राजा नहीं बनाना चाहते तो संसार से पराधीन भिखारियों का वंश आपने क्यों बढाया? दूसरे की सम्पत्ति की छाया में खाली हाथों घूमने से वन में चले जाना अथवा मर जाना कहीं अच्छा है। आप यह भली प्रकार से सोच लीजिये कि मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ बालक दूसरे की हुकूमत नहीं सहेगा, मैंने जन्माया है, मैं ही राज्य दूँगी, नहीं तो मैं अपने ही हाथों से उसे मार डालूँगी। यदि मैं ऐसा न करूँगी तो वह मुझे कुमाता कह कर अभिशाप देगा।

[कञ्चुकी का प्रवेश]

कंचुकी—युवराज राजधानी मे आ गये हैं। महाराज का दर्शन करने के लिये वह शीघ्र ही आ रहे हैं।

(प्रस्थान)

रेवती--मैं आड़ मे रहूँगी। आप उससे कह दीजिये कि अस्त्र-शस्त्र रखकर जालन्धर-पति के चरणों में अपराधी की तरह आत्मसमर्पण करे।

चन्द्र—तुम जाती क्यों हो, यहीं रहो।

रेवती—मैं अपने हृदय के भाव को छिपा नहीं सकती। बनावटी ममता दिखाना मेरे लिये असम्भव है। इसीसे छिपी रह कर तुम लोगों की बातें सुनूंगी।

(प्रस्थान)

[कुमार और सुमित्रा का प्रवेश]

कुमार—प्रणाम।

सुमित्रा—चाचाजी, प्रणाम।

चन्द्र—दीर्घजीवी हो, सुखी रहो।

कुमार—चाचाजी! मैंने बहुत पहिले ही यह समाचार भेजा था कि मेरे पीछे शत्रु सेना काश्मीर पर आक्रमण करने के लिये आ रही है। राजन्! युद्ध की तयारी कहां है? युद्ध के लिये सुसज्जित सेना कहां है?

चन्द्र—शत्रु? तुम शत्रु किसे कहते हो! क्या विक्रम शत्रु है? बेटी सुमित्रा, पुत्री! विक्रम क्या काश्मीर का जामाता नहीं है? यह यदि इतने दिनों पर काश्मीर आया है तो क्या उसका स्वागत तलवार से करना होगा?

सुमित्रा—चाचाजी, मुझ से आप कुछ न पूछिये। हा! मैं कैसी अभागी हूं। अन्तःपुर छोड कर मैं बाहर क्यों आई? मैं नहीं जानती थी कि बाहर इतना उपद्रव छिपा है, जो अबला नारी के पर रखते ही विषधर सर्प की तरह फन फैलाकर फुफकारने लगेगा। चाचाजी, मैं हतबुद्धि हूं, मुझ से आप कुछ न पूछिये। (कुमार से) भाई, तुम सब कुछ जानते हो, तुम ज्ञानी और धीर हो। तुम्हीं बता सकते हो कि क्या करना चाहिये। मैं तो तुम्हारे पैरों की छाया हूं। तुम संसार की गति जानते हो, पर मैं केवल तुम्हीं को जानती हूं।

कुमार—महाराज, इसमें सन्देह नहीं, जालन्धरपति हमारे शत्रु नहीं पर परम आत्मीय हैं। किन्तु इस समय वह काश्मीर के शत्रु हैं काश्मीर पर आक्रमण करने के लिये वह शत्रु भाव से आ रहे हैं। अपने अपमान को मैंने सह लिया है, परन्तु राज्य पर आनेवाली विपत्ति की उपेक्षा मैं कैसे कर सकता हूं?

चन्द्र—वत्स! उसके लिये चिन्ता न करो, काश्मीर में इस समय यथेष्ट सेना मौजूद है, किसी बातका भय करना व्यर्थ है।

कुमार—उस सेना का भार आप मुझे दे दीजिये।

चन्द्र—देखा जायगा। पहिले ही से तैयारी करने से विना कारण लडाई छिड जाती है। जब आवश्यकता होगी, तब सब सेना तुम्हें सब सौंप दी जायगी।

(रेवती का प्रवेश)

रेवती—सेना का भार कौन लेना चाहता है ?

सुमित्रा और कुमार—चाचीजी प्रणाम।

रेवती—रणभूमि से पीठ दिखा कर तुम भाग आये हो, तिस पर यहाँ आकर सैन्य-भार लेना चाहते हो ? क्या राजपूतो का यही काम है ? इसी साहस से तुम काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठना चाहते हो ? छिः छिः तुम्हें लज्जा नहीं आती! अन्तःपुर में जाकर छिप रहो। तुम्हारे ऐसा कापुरुष यदि राजसिंहासन पर बैठेगा, तो लोग यही कहेंगे कि संसार के सर्वश्रेष्ट राजमुकुट में कालिमा लग गई।

कुमार—माता, मने आप का ऐसा कौनसा अपराध किया है कि जिससे आप ऐसा कठोर वचन मुझे सुना रही हैं। न जाने क्यों आप इस अभागे पर बहुत दिनो से अप्रसन्न हैं। आप की क्रोध से भरी दृष्टि मेरे मर्म-स्थानो को सदा वेधा करती है। जब कभी मैं आप के पास आता हूँ आप मुँह फेर कर दूसरी जगह चली जाती हैं, विना अपराध कठोर वचन कहती हैं। माता बताओ, क्या करने से आप मुझ पर अपने ही पुत्र की भांति स्नेह करेंगी ?

[illegible] —ब कह दूँ ?

चन्द्र—छिः छिः चुप रहो रानी ।

कुमार—माता, अब अधिक कहने का समय नहीं है। शत्रु मेरे द्वार पर सेना सहित आक्रमण करने के लिये आ रहा है। इसी से मैं सेना का भार आप से भिक्षा की तरह माँग रहा हूँ ।

रेवती—अपराधी की भाँति तुम्हें कैद करके जालन्धर-पति के यहाँ भेज दूँगी। यदि वह तुम को क्षमा करें तो अच्छी बात है, नहीं तो जो कुछ दण्ड वह तुम को दें वह तुम्हें सिर झुका कर सहना होगा ।

सुमित्रा—धिक्कार है ! माता, चुप रहो । स्त्री होकर राज काज में हाथ न डालो, नहीं तो घोर अमंगल के जाल में सब को फँसा कर आप भी उसमें फँस जाओगी । दया और प्रेम से रहित सदा चलायमान इस कर्मचक्र से मुँह फेर लो । तुम केवल प्रेम करो, स्नेह करो दया करो और सेवा करो । दया-मयी माता की तरह राजमहल में बैठकर अपने स्नेह से सब का दुःख दूर करो । माता ! सन्धि-विग्रह आदि राज्यप्रबन्ध के जटिल कामों में हाथ डालना स्त्रियों का काम नहीं है ।

कुमार—समय बीता जा रहा है, महाराज क्या आज्ञा है ?

चन्द्र—कुमार ! अभी तुम अनजान बच्चे हो, इसी से समझते हो कि सब काम इच्छा करते ही पल भर में पूरे हो जाते हैं । परन्तु याद रखो, राजकाज इतना सहज नहीं है। लाखों मनुष्यों के जीवन-मरण का प्रश्न भला क्षण भर में कैसे निश्चय किया जा रहा है ।

कुमार—तात, इस प्रकार विलम्ब करना अत्यन्त निर्दयता है । मुझे विपत्ति के मुंह में छोड़, चुपचाप सोच विचार करना

आप के लिये उचित नहीं है। यदि आप की ऐसी ही इच्छा है तो आपके चरणों में प्रणाम करके विदा होता हूँ।

(सुमित्रा और कुमार का प्रस्थान)

चन्द्र—तुम्हारी कठोर बातें सुन कर कुमार पर दया आती है। इच्छा होती है कि उसको बुलाकर हृदय से लगा लूँ और और प्रेम से उसके हृदय की दर्द दूर कर दूँ।

रेवती—महाराज, आप तो बच्चों की सी बाते करते हैं। आप समझते है कि स्नेह करने ही से कार्य सिद्ध हो जायगा। पुरुषों की तरह यदि आप काम करते होते तो मैं घर में बैठी बैठी दया और स्नेह करती रहती। पर अब तो इन बातो के लिये समय नहीं है।

(रेवती का प्रस्थान)

चन्द्र—जिस तरह बिगड़ा हुआ घोड़ा हवा की तरह दौड़ता हुआ रथ को पत्थर की दीवार से टकरा कर चूर चूर कर डालता है, उसी तरह मनुष्यो की बलवती आकाक्षाएँ भी प्रबल वेग से चलती हैं और अन्त में स्वयं नष्ट हो जाती है।

द्वितीय दृश्य

काश्मीर का बाजार

भीड़

पहिला—क्यों जी चाचा, तुम ने गुदामों मे जो गेहूँ इकट्ठे कर रक्खे थे उन्हें बेचने के लिये आज इतनी जल्दी क्यो कर रहे हो?

दूसरा—बिना बेचे छुटकारा नहीं है। जालन्धर की फौज आ रही है। सब लूट लेगी और हमारे इन महाजनो के बड़े बड़े गुदामो को और भारी भारी तोंदको ऐसा फाँस देगी कि गेहूँ और रोटी दोनो ही के लिये जगह नहीं रहेगी।

महाजन—अच्छी बात है, खूब हँस लो। पर याद रखो, जूते सबके सिर पर पडेंगे। हँसने का मजा बहुत जल्दी मिल जायगा।

पहिला—इसी सुख से तो हँस रहा हूँ। इस बार हम और तुम एक साथ ही मरेंगे। तुम लोग गेहूँ बटोरकर रखते थे और हमलोग भूखे मरते थे, इस बार ऐसा नहीं होगा। इसबार तुम भी भूख से छटपटाओगे। उस समय तुम्हारे सूखे मुँह को देख कर हम लोग खुशी से मर सकेंगे।

दूसरा—हम लोगो को कौनसी चिन्ता है! हमलोगो के पास धरा ही क्या है! आखिर ज़िन्दगी ऐसे भी बहुत दिन नहीं चलती, वैसे भी बहुत दिन नहीं चलेगी। इसलिये जबतक जीते हैं ज़रा हँस-बोल तो लें।

पहिला—क्यो जी जनार्दन, इतने बोरे क्यो लाये हो? कुछ खरीदोगे क्या?

जना०—साल भर के लिये गेहूँ खरीद कर रख दूँगा।

दूसरा—समझ लो कि खरीद लिया, पर रखोगे कहाँ?

जना०—आज ही रात को हम अपने मामा के यहाँ भाग जायँगे?

पहिला—पर मामा के घर तक तो पहुँचना ही कठिन है! राह में बहुत से मामा मिलेंगे जो बड़े आदर से तुम्हें बुला लेंगे।

[शोर करते हुए कुछ लोगों का प्रवेश]

पाँचवाँ—कौन है जी! क्या तुम लोग लड़ाई करना चाहते हो? लड़ना चाहते हो तो आओ।

पहिला—हाँ हाँ मैं राजी हूँ। बताओ, किसके साथ लड़ना होगा?

पाँचवाँ—चाचा महाराज (चन्द्रसेन) जालन्धर-पति के साथ मिलकर उनके हाथ हमारे युवराज को पकड़ा देना चाहते हैं।

दूसरा—हाँ तो चाचा महाराज के दाढ़ी में हमलोग आग लगा देंगे।

बहुत से—हम अपने युवराज की रक्षा करेंगे।

पाँचवाँ—चाचा महाराज चुपचाप युवराज को कैद करना चाहते थे। इसीसे हम लोगो ने उन्हें छिपा रखा है।

पहिला—चलो भाई, चाचा महाराज का चल कर हाँथ पैर तोड़ दें।

दूसरा—चलो भाई, उनका सिर काट कर उनको रुण्ड-मुण्ड कर दें।

पाँचवाँ—अरे, यह सब काम पीछे होगा, पहिले हम लोगो को युद्ध करना होगा।

पहिला—हाँ हाँ हम लड़ेंगे। इसी बाजार से ही लड़ाई

क्यों न शुरू कर दी जाय ? चलो पहिले इन महाजन लोगो के गेहूं के बोरे हम लोग लूट लें, उसके बाद घी, चमड़ा, कपडा इत्यादि चीजों पर हाथ साफ करें।

[छठे का प्रवेश]

छठवाँ—तुम लोगो ने सुना ! युवराज छिपे है, यह सुनकर जालन्धर के राजा ने ढिंढोरा पिटवा दिया है कि जो उनका पता पता देगा उसको इनाम मिलेगा।

पाँचवाँ—तुझको इन खबरो से क्या काम ?

दूसरा—तू इनाम लेना चाहता है क्या ?

पहिला—आओ भाई सब लोग मिल कर इसको इनाम दें। चलो कोई न कोई काम तो शुरू कर दिया जाय। चुपचाप तो अब बैठा नहीं जाता।

छठवाँ—भाई, मुझको मारो मत, दुहाई है तुम सब लोगो की ! मैं तो तुम्हें सावधान करने आया हूँ।

दूसरा—बचा, तू खुद अपने को सावधान कर।

पांचवाँ—इस खबर को अगर तू फैलावेगा तो तेरी जीभ पकड़ कर खींच लूंगा।

(दूर पर शोर)

बहुत से एक साथ—आ गई, आ गई !

सब—अरे आ गई रे, आ गई ! जालन्धर की सेना आ पहुंची।

पहिला—तब फिर देर क्यो करते हो ! चलो लूट शुरु कर दें। यह देखो जनार्दन बोरा भर भर कर गेहूँ बैलो पर लाद रहा है। बस चलो इस जनार्दन के बैलों को गेहूँ सहित हाँक ले चलें।

दूसरा—तुम लोग जाओ भाई । मै तबतक तमाशा देख आऊ । पाँती बाँधकर नंगी तलवार हाथो में लिये जिस समय सेना आती है, उस समय मुझे उसे देखने में बडा मज़ा मिलता है ।

गीत

स्वर्ग द्वार अब खुला पड़ा है, दौडो लड़को ज्वानो ।
ऐसा अवसर हाथ न आवे, दौड़ो लडको ज्वानो ॥
आखिर एकदिन मरना, इस मरने से क्या डरना ।
काम देश का करना है, अब दौड़ो लडको ज्वानो ॥
छोडो मन की शङ्का अब बजे चोट का डङ्का ।
हो जाओ बहादुर बङ्का, तुम दौड़ो लडको ज्वानो ॥

तृतीय दृश्य

त्रिचूड़ राजमहल

अमरुराज और कुमारसेन

अमरु—भागो, भागो। यहाँ हमारे राज्य में न आओ! तुम खुद तो डूब ही रहे हो अपने साथ मुझे क्यों डुबाते हो। तुमको आश्रय दे कर मैं जालन्धर-पति के निकट अपराधी नहीं होना चाहता। यहाँ तुम्हारे लिये स्थान नहीं है।

कुमार—मैं आश्रय नहीं चाहता। अनिश्चित अदृष्ट-रूपी समुद्र में अपनी जीवन नौका को बहा दूँगा, परन्तु उसके पहिले सिर्फ एकबार इला को देख जाना चाहता हूँ। बस, मैं आप से यही भिक्षा माँगता हूँ।

अमरु—इला को देखना चाहते हो? क्यों, उसे देख कर तुम क्या पाओगे? स्वार्थी मौत के मुँह में पडे हो, सिर पर अपमान का बोझ लदा है। न तुम्हारा घर है न द्वार, न कहीं ठौर है, न ठिकाना। ऐसी हालत में भी इला के हृदय में प्रेम की पूर्व-स्मृति जगाने के लिये यहाँ क्यों आये हो?

कुमार—आर्य, यहाँ क्यों आया हूँ, हाय! यह आपको मैं कैसे समझाऊँ।

अमरु—विपद के प्रबल स्रोत में तुम बह रहे हो, ऐसी अवस्था में तुम किनारे की कुसुमित सुकुमार लता को पकडना चाहते हो। जाओ, बह जाओ।

कुमार—मेरी यह विपत्ति केवल मेरी ही नहीं है। मेरे दुःख से वह भी दुःखी होगी। प्रेम केवल सम्पत्ति ही नहीं

चाहता । महाराज, एकबार दो घडी के लिये उससे मुझे विदा माँग लेने दीजिये ।

अमरू—जाओ, चले जाओ । उसको अवसर दो ताकि वह तुम्हें भूल जाय । उसका प्रसन्न मुख सदा के लिये मलीन न करो ।

कुमार—वह यदि मुझे भूल सकती तो मैं उसको भूलने का अवसर देता । मैं उससे कह गया था कि फिर आकर तुम से शीघ्र मिलूँगा । मैं जानता हूँ इसी आशा और विश्वास से वह मेरी राह देखती होगी । उस सरला बालिका के अगाध विश्वास को मै कैसे तोड़ दूँ ।

अमरू—उस विश्वास का टूट जाना ही अच्छा है । नहीं तो वह अपने जीवन को नई राह पर न ले जा सकेगी। जीवन-पर्यन्त दुःख भोगने की अपेक्षा थोड़े दिनो का कष्ट अच्छा है ।

कुमार—उसका सुख-दुःख आपने मुझे सौंप दिया है । उसे आप किसी भाँति भी लौटा न सकेंगे । आप उसके हृदय को नहीं जानते । आप जिसको उसका सुख-दुःख समझते हैं वास्तव में वह उसका सुख-दुःख नहीं है । महाराज ! एक बार उसे मुझे दिखला दीजिये ।

अमरू—मैंने उससे कह दिया है कि तुम हम लोगो को तुच्छ समझ कर केवल विवाह सम्बन्ध तोडने ही के लिये युद्ध का बहाना करके विदेश जा रहे हैं ।

कुमार—धिक्कार है ! ऐसी धोखेबाजी को धिक्कार है ! उस सरला बालिका के तुम पिता होने के योग्य नहीं हो। यह कठोर झूठी बातें जिस समय तुमने उससे कही उस समय ईश्वर क्या सोच रहा था । हा ! उसी समय तुम्हारे सिर पर वज्र क्यो नहीं पड़ा ! अब तक क्या वह जीवित है । मुझे जाने दो,

जाने दो, उसके पास जाने दो, क्या नहीं जाने दोगे ? तब तलवार से मेरा सिर काट दो और उससे कह दो कि मैं मर गया। पर उसको धोखा मत दो।

(शंकर का प्रवेश)

शंकर--मैंने सुना है कि तुम्हें खोजने के लिये शत्रुओं के गुप्तचर आ रहे हैं। चलो, यहाँ क्षण भर भी ठहरना उचित नहीं है।

कुमार--कहाँ जाऊँगा ? छिप कर क्या करूँगा ? इस जीवन को अब मैं धारण नहीं कर सकता।

शंकर--वन में, सुमित्रा तुम्हारा आसरा देख रही है।

कुमार--चलो तब चलता हूँ। हा ! इला तुम कहाँ हो। इला, तुम्हारे द्वार पर आकर मैं लौटा जाता हूँ। विपत्ति के दिनों में चारों ओर से संसार के सुख के द्वार बन्द हो जाते हैं। प्रिये, मैं हतभाग्य हूँ, पर अविश्वासी नहीं हूँ। चलो भाई चलें।

चतुर्थ दृश्य

त्रिचूड़—अन्तःपुर

इला और सखियाँ

इला--झूठ है, झूठ है ! तुम सब चुप रहो ! मैं उनका हृदय जानती हूँ । सखी, मेरे बालों को फूलों से गूंथ दे, वही नीली साडी ले आ । सोने के थाल में खिले हुए मालती के फूल ले आ, नदी के तट पर उसी बकुल वृक्ष के नीचे जहाँ वह बैठते थे, वहीं चट्टान पर मेरे लिये आसन बिछा दे । इसी भाँति प्रतिदिन शृङ्गार करके मैं वहाँ जाकर बैठी रहूँगी । न जाने कब सहसा मेरा प्रियतम आ जाय । हमलोगों का मधुर-मिलन देखने के लिये पूर्णिमा की रात्रि दो बार आई, पर निराश होकर चली गई । परन्तु अब मुझे निश्चय है कि इस बार की पूर्णिमा कदापि निष्फल नहीं होगी । इस बार वह निश्चय मुझ से मिलने आवेंगे । पर यदि वह न भी आवें तो इससे तुमलोगों का क्या ? मुझे यदि वह भूल ही जाँय तो उस दुःख को मैं ही समझ सकूंगी । मुझ में कौनसी ऐसी बात है कि वह मुझे न भूल जाँय ? मुझे भूल कर यदि वह सुखी हो तो वही अच्छा है । यदि वह मुझ से प्रेम करके सुखी हो तो वह भी अच्छा है । सखी, तुमलोग व्यर्थ न बको, थोडी देर चुप रहो ।

गीत

निशिदिन तेरे ध्यान मग्न हो, रातों जाग बिताऊंगी ।
आवे जिस दम याद तुमारी, रो रो आंख गवाँऊंगी ॥

प्राण आकर पास खड़े हो, चन्द मुखड़ा दिखला देना ।
सुख से करो आनन्द भवन में, नेकु नहीं रिसिआऊंगी ॥
बहते रहो मौज लहरों में, मनमें मेरे यह इच्छा ।
साथ तुम्हारे आऊँगी, तो राह तुम्हारी पाऊंगी ॥
यदि साथ विधाता ना देवे, तो हानि तुमारी तनिक नहीं ।
ऐसा भूलना तुम मुझे, कि याद न फिर मैं आऊँगी ॥
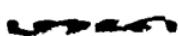
पञ्चम दृश्य

काश्मीर-शिविर

विक्रमदेव, जयसेन और युधाजित

जय—वह भागकर कहाँ जायगा ? राजन् मैं उसे पकड़ लाकर आपके चरणों में डाल दूँगा । बिल के बाहर आग लगा देने से जैसे उत्ताप से घबड़ा कर साँप बाहर निकल आता है वैसे ही जब समस्त काश्मीर को घेरकर आग लगा दूँगा तब वह भी स्वयं आ कर आपके चरणों में आत्मसमर्पण कर देगा ।

विक्रम—उसके पीछे-पीछे न जाने कितने वन, कितनी नदियों और कितने ऊँचे ऊँचे पर्वतों को लांघकर यहाँ तक आया हूँ । पर वह हाथ नहीं आता । मैं उसको चाहता हूँ, मैं उसीको चाहता हूँ । उसके बिना मुझे सुख नहीं, मुझे नींद नहीं है । शीघ्र यदि मैं उसको न पाऊँगा तो समस्त काश्मीर का छिन्न-भिन्न करके देखूँगा कि वह कहाँ है ।

युधा—महाराज, मैंने यह घोषणा कर दी है कि जो कोई उसे पकड़ा देगा, उसे पुरस्कार दिया जायगा ।

विक्रम–उसे पाये विना मै दूसरे कामो में हाथ नहीं लगा सकता हूँ । मेरा राज्य सूना पडा है । राजकोष खाली हो रहा है । देशमें दुर्भिक्ष फैल रहा है, देश में विद्रोह फैल गया है पर तो भी मैं अपने राज्य में लौट नहीं सकता हूँ । ओह ! यह तो मानो मुझी को दृढ़–बन्धन में बाँधकर शत्रु भाग गया है। जान पडता है कि वह आया, बस वह आ गया, वही दिखाई पड रहा है, वह धूल उड़ रही है अब देर नहीं है। इस बार वह दौडते और हाँफते हुए हरिण की तरह दिखाई पड़ेगा । जल्दी लाओ उसको, चाहे वह जीवित हो अथवा मृत । नहीं तो मेरे पास जो कुछ है सब नष्ट हो जायगा ।

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे--राजा चन्द्रसेन और उनकी रानी आपसे मिलने के लिये आयी हैं ।

विक्रम—(जयसेन और युधाजित से) तुमलोग ज़रा हट जाओ । (पहरेदार से) उनसे मेरा प्रणाम कहकर आदर पूर्वक ले आओ ।

(और सबका प्रस्थान)

क्या करूँ ! मेरे सास ससुर आ रहे हैं । जब वह कुमार के बारे में पूछेंगे तब मैं क्या उत्तर दूँगा ? कुमार के लिये यदि वह क्षमा माँगेंगे तो मै क्या कहूँगा ! विशेष करके मै स्त्रियो का रोना नहीं देख सकता ।

(चन्द्रसेन और रेवती का प्रवेश)

विक्रम--प्रणाम ! प्रणाम !

चन्द्र--चिरंजीव हो !

रेवती—तुम्हारी विजय हो, तुम्हारी सब मनोकामनायें पूर्ण हो।

चन्द्र—मैंने सुना है कि कुमार ने तुम्हारा कुछ अपराध किया है।

विक्रम—जी हाँ, उसने मेरा अपमान किया है।

चन्द्र—उसको कौनसा दण्ड देना तुमने विचारा है?

विक्रम—कैदी की तरह यदि वह अपना अपराध स्वीकार कर लेगा, तो मैं उसे क्षमा कर दूँगा।

रेवती—केवल इतनाही? और कुछ भी नहीं? यदि उसे क्षमा ही करना था तो इतना कष्ट सहकर, इतनी सेना लेकर, इतनी दूर आने की क्या आवश्यकता थी?

विक्रम—मेरा तिरस्कार न कीजिये। राजा का प्रधान काम अपने मान की रक्षा करना ही है। जो मस्तक पर मुकुट धारण करता है वह अपमान के बोझ को नहीं उठा सकता। मैं यहाँ व्यर्थ नहीं आया हूँ।

चन्द्र—बेटा, उसे क्षमा करो। वह नासमझ बालक है। यदि तुम्हें उसे दण्ड देना ही हो, तो उसका राज्याधिकार छीन लो, उसकी राजगद्दी छीन लो, उसे देश से निकाल दो, पर उसका प्राण न लेना।

विक्रम—मैं उसका प्राण लेना नहीं चाहता।

रेवती—तब इतना अस्त्र-शस्त्र क्यों लाये हो? निर्दोषी प्रजा और सैनिकों का तो संहार कर जाओगे, पर जो यथार्थ अपराधी है उसे क्षमा कर दोगे?

विक्रम—महारानी, आप क्या कहती हैं, मेरी समझ में नहीं आता।

चन्द्र—कुछ नहीं, कुछ नहीं। मैं समझा देता हूँ। जिस समय कुमार ने मुझसे सेना माँगी, मैंने उससे कहा कि, विक्रम हमारे स्नेहपात्र हैं, उनसे युद्ध करना उचित नहीं जान पड़ता। इसी दुःख से उसने क्रुद्ध होकर प्रजाओं के घर जा जाकर उन्हें विद्रोह करने के लिये उत्तेजित किया। इसीसे महारानी उसपर अप्रसन्न हैं और उस राजविद्रोही को दण्ड देने के लिये तुम से कहती हैं। परन्तु वत्स, उसे कठोर दण्ड न देना। क्योंकि वह अभी नासमझ बच्चा है।

विक्रम—पहिले उसे कैद कर लूं। उसके उपरान्त विचार करूँगा।

रेवती—प्रजागणों ने उसे छिपा रखा है। तुम प्रजाओ के प्रत्येक घरो में आग लगा दो। उनके खेतो को जला दो। भूख रूपी राक्षसी के हाथो में देश को सौंप दो। तब प्रजा उसको बाहर निकालेगी।

चन्द्र—चुप रहो, चुप रहो रानी। बेटा! काश्मीर के राज-महल में चलो।

विक्रम—आप चलें, मैं पीछे से आऊँगा।

(चन्द्रसेन और रेवती का प्रस्थान)

विक्रम—अरे यह कैसी क्रूर स्त्री है, मानो साक्षात् नरक की अग्नि शिखा है। मेरे साथ मित्रता करके यह अपना काम साधना चाहती है। इतने दिनों के उपरान्त मुझे अपने हृदय की प्रतिमूर्ति इस स्त्री के मुख में दर्पण की तरह दिखाई पड़ी। परन्तु क्या मेरे ललाट की रेखायें ऐसी ही क्रूर, ऐसी ही टेढ़ी, ऐसी ही छुरी की तरह तेज़ और ऐसी ही ज्वालामयी हैं? हुई हिंसा के बोझ से क्या मेरे भी दोनो होठ लटक

गये हैं ? खूनी की ज़हर से बुझाई हुई छुरी की तरह क्या मेरी बातें भी वैसी ही तीक्ष्ण, वैसी ही उष्ण, वैसीही कठोर है ? नहीं नहीं, कदापि नहीं। मेरे हृदय की यह हिंसा भयंकर और प्रचण्ड अवश्य है, परन्तु विश्वासघातक नहीं है, क्रूर नहीं है छद्मवेषमें छिपी नहीं है। मेरे हृदय की यह ज्वाला प्रचण्ड प्रेम की तरह प्रबल और दुर्निवार्य है। अरी भयंकर स्त्री ? मैं तेरा आत्मीय नहीं हूँ। हे विक्रम ! इस प्रलयकारी खेल को बन्द करो। श्मशान के इस ताण्डव नृत्य को रोक दो, इस भयंकर चिता को बुझा दो, जिससे इस श्मशान के पिशाच और पिशाचिनी, विना तृप्त हुए ही हिंसारूपी तृष्णासे छटपटाते हुए लौट जायँ। एकदिन इनको मैं समझादूंगा कि मैं तुम्हारा कोई नहीं हूँ। तुम्हारा यह गुप्त लोभ, कभी सफल नहीं होगा, तुम्हारी यह हिंसामयी तृष्णा कभी मिटेगी नहीं। मैं देखगा कि अपने ही विष से विषधर सर्प की तरह ऐसे मनुष्य कैसे जल मरते हैं। ओ हो ! स्त्रियों का हिंसा से भरा हुआ मुख कैसा भयंकर, कैसा निष्ठुर और कैसा कुत्सित दिखाई पड़ता है।

(गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—महाराज, कुमार त्रिचूड़ की ओर गये हैं।

विक्रम—इस समाचार को गुप्त रखना, मैं शिकार के बहाने वहाँ जाऊँगा।

गुप्तचर—जो आज्ञा।

षष्ठ दृश्य

जंगल

सूखे पत्तों की शय्या पर कुमार सोये हैं
और सुमित्रा बैठी है।

कुमार—बहिन अब कितनी रात है ?

सुमित्रा—रात अब नहीं है भैया। आकाश में लाली छा गई है, पर वन-वृक्षों की छाया ने अन्धकार को रोक रखा है।

कुमार—तुम सारी रात बैठी बैठी जाग रही हो, बहिन तुम्हें नींद क्यो नहीं आई ?

सुमित्रा—बुरे स्वप्न देखकर मैं जाग उठी हूँ। कई दिनो से ऐसा जान पडता है कि मानो कोई सूखे पत्तों पर चल रहा है। जान पड़ता है कि पेडों की आड़ में कोई धीरे धीरे गुप्त मन्त्रणा कर रहा है। थकाहट से आँखें जरा सी यदि लग भी जाती हैं, तो भयंकर दुःस्वप्न देख कर जाग उठती हूँ। पर जब सुख से सोये हुए तुम्हारे मुख को देखती हूँ तो मेरे जी में जी आता है।

कुमार—बुरी चिन्ता ही बुरे स्वप्नों की जननी है। बहिन, तुम मेरे लिये सोच न करो। मैं बड़े सुख से हूँ। जीवन-रूपी नदी के मझधार में डूबकर जीवन का आनन्द कौन जान सकता है ? पर मृत्यु के तटपर बैठ कर मानो मैं इस जीवन के आनन्द का भरपूर उपभोग कर रहा हूँ। संसार के सब , सब शोभा, सब प्रेम एक साथ मानो मुझे आलिंगन कर— हैं। जीवन के प्रत्येक बूँद में जितनी मिठास है मैं उन सब

का स्वाद पा रहा हूँ। घने जंगल, ऊँचे शिखर, अनन्त आकाश, कलकल शब्द करती हुई नदियां इन सब की आश्चर्य्य शोभा देखकर मैं मुग्ध हो रहा हूं। अयाचित प्रेम वन-वृक्षोंसे पुष्प वृष्टि की तरह मुझ पर बरस रहे हैं। मेरे चारो ओर मेरी भक्त प्रजा मेरी रक्षा कर रही है। प्रेममयी माता की तरह, बहिन, तू मेरे सिरहाने बैठी है। अहा! इससे बढ़कर और कौन सा सुख होगा। उडने के पहिले मानो मेरा जीवन-विहंग अपना रंग-बिरंग पंख फैला रहा है। बहिन सुनो, वह लकडहारा गीत गाता हुआ आ रहा है। उससे राज का समाचार मिलेगा।

(लकड़हारे का प्रवेश)

गीत

बन्धु बरूँगा तुमको राता इसी वृक्ष के नीचे।
वन फूलों की माला दूँगा प्रेम जल से सींचे।
सिंहासन के लिये हृदय को दूँगा तुरत बिछाय।
अश्रुजलों से प्रेम मन्त्र से दूँगा तुम्हें नहलाय।

कुमार—(आगे बढ़कर) सखा, आज क्या समाचार है?

लकड़०—प्रभु! समाचार अच्छा नहीं है. कल रात को जयसेन ने नन्दीग्राम जला दिया है। आज पाण्डुपुर की ओर आ रहा है।

कुमार—हाय, मेरी भक्त प्रजा, तेरी रक्षा मैं कैसे करूँ? भगवन्, दीन पर आप इतने निष्ठुर क्यो हैं?

लकड़०—(सुमित्रा के प्रति) माता, यह लकडियों का बोझ आप के श्री चरणों में भेंट है, इसे अंगीकार करो।

सुमित्रा—सुखी रहो, भगवान तुम्हारा मंगल करें।

(लकड़हारे का प्रस्थान)

[भील का प्रवेश]

कुमार—क्या समाचार है ?

भील--युवराजजी, सावधान रहिये । किसी पर विश्वास न कीजिये । युधाजित ने ढिंढेरो पिटवा दिया है कि जो आपको जीवित या मृत पकड़ा देगा उसे पुरस्कार मिलेगा ।

कुमार--विश्वास करके मरना भी अच्छा है, पर अविश्वास मैं किस पर करूं, क्योंकि तुम सब तो मेरे अनन्य भक्त सरल-हृदय मित्र हो ।

भील—माताजी, थोड़ी सी शहद ले आया हूं, दया करके इसे ग्रहण करो ।

सुमित्रा—भगवान तुम्हारा मंगल करें ।

(भील का प्रस्थान)

(शिकारी का प्रवेश)

शिकारी—जय हो प्रभु ! शिकार के लिये मुझे दूर पहाड़ पर जाना होगा, वह स्थान बड़ा दुर्गम है आपके चरणों में प्रणाम करके जाता हूं । कल जयसेन ने मेरा घर जला दिया है ।

कुमार--धिक्कार है उस पिशाच को !

शिकारी--हमलोग शिकारी है, वन ही हमारा घर है । जब तक वन है, हमको गृह हीन कौन कर सकता है ? माता कुछ भोजन की सामग्री लायो हूँ । गरीब का यह तुच्छ उपहार स्वीकार करो । माता आशीर्वाद दो कि मैं लौटकर अपने युवराज को राजसिंहासन पर बैठे हुए देखूँ ।

कुमार—(हाथ बढा कर) आओ भाई, आओ तुमसे भेंट लू ।

(शिकारी का प्रस्थान)

कुमार—वृक्षों के पत्तो में से सूर्य्य की किरणे दिखाई पड़ हैं । चलूँ, नदी तट पर चलकर स्नान सन्ध्या करूं ।

नदी तट पर बैठ कर अपनी छाया जब जल में देखता हूँ तो जान पड़ता है कि मैं केवल छाया मात्र हूँ। यह नदी बहती हुई त्रिचूड़ के प्रमोद वन की ओर चली गई है। इच्छा होती है कि मेरी छाया भी इसी नदी के स्रोत में बहकर, जहाँ सन्ध्या समय इला इस नदी तीर के वृक्ष के नीचे बैठी रहती है। चली जाय और उसकी म्लान छाया को अपने साथ लेकर सदा के लिये अनन्त समुद्र की ओर बह जाय। यह सब स्वप्न-कल्पना व्यर्थ है, चलो बहिन प्रातः कृत्य कर आवें। वह सुनो पक्षियों के गीत से वन गूंज उठा।

सप्तम दृश्य

त्रिचूड़-प्रमोदवन

विक्रमदेव और अमरुराज

अमरु—जो कुछ मेरे पास है वह सब मैं आपको भेंट करता हूँ। आप वीर हैं, आप महाराजाधिराज हैं मेरी कन्या आप ही के योग्य है, उसे आप अंगीकार कीजिये। माधवी-लता सुगन्धित आम्र-वृक्ष पर ही शोभा देती है। महाराज थोड़ी देर आप यहाँ ठहरिये, मैं अभी उसे यहाँ भेजे देता हूँ।

विक्रम—यहाँ कैसी मधुर शान्ति है। इस वन में रहना कैसा सुखद है, वृक्षों की घनी छाया, नदी की कलकल ध्वनि, मनको मुग्ध करती है। अहा! शान्ति कैसी शीतल, कैसी गंभीर और कैसी निस्तब्ध है। बहुत दिनों से मैं इसे भूल गया था। जान पड़ता है कि मेरे हृदय की भयंकर ज्वाला भी यहाँ शान्त हो

जायगी और उसका कोई चिह्न नहीं रह जायगा । हा! ऐसा ही सुख, ऐसी ही शान्ति मुझे मिली थी, पर वह न जाने किसके अपराध से चली गई । मेरे या उसके? चाहे जिसके अपराध से गई हो पर क्या मैं उसे इस जन्म में अब न पाऊँगा! जाओ, तब चली जाओ, सदा के लिये दूर चली जाओ । जीवन में अनुताप के रूप में बनी न रहो । देखूँ कदाचित संसार के इस निर्ज्जन नेपथ्य में नवीन प्रेम का आस्वाद वैसा ही गंभीर, वैसा ही मधुर पाजाऊँ ।

[सखियों के सहित इलाका प्रवेश]

अहा! यह कैसी मनोहर मूर्त्ति है! मैं धन्य हूँ । देवि इस आसन को ग्रहण करो । मौन क्यो हो सिर क्यो झुकाये हो? तुम्हारा मुख उदास क्यो है? देहलता कांप क्यो रही है? देवि, तुम्हें किस बात का कष्ट है?

इला—(घुटने टेक कर) मैंने सुना है कि आप महाराजाधिराज हैं, आप ससागरा पृथ्वी के अधीश्वर हैं । मैं आपसे कुछ भिक्षा चाहती हूँ ।

विक्रम--उठो, उठो सुन्दरी! तुम्हारे ये कोमल चरण इस कठिन भूमि के योग्य नहीं हैं । तुम इस प्रकार धरती पर क्यो पड़ी हो? संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो मैं तुम्हें न देना चाहूँ?

इला—महाराज, पिताजी ने मुझे आपको सौंप दिया है, मै स्वयं अपने ही को आपसे मॉगती हूँ, मुझे आप लौटा दीजिये । आप के पास न जाने कितना धन, रत्न, राज्य और देश होंगे, केवल मुझे यहीं छोड़ जाइये । आपको किसी बात की नहीं है ।

विक्रम—कौन कहता है कि मुझे किसी बात की कमी नहीं है। मैं अपने हृदय को कैसे दिखाऊँ ? यदि उसे दिखा सकता तो तुम्हें दिखाता कि वहाँ न धन है न रत्न और न ससागरा पृथ्वी ! मेरा हृदय सूना है ! यदि मेरे पास राज और ऐश्वर्य कुछ भी न होता पर तुम होती तो ?

इला—(उठकर) तब ले चलो मुझे ले चलो ! जिस प्रकार वन की हरिणी को तीखे बाणों से वेधकर अहेरी उसे ले जाते हैं उसी प्रकार पहिले मेरा प्राण निकाल कर तब मुझे ले चलो।

विक्रम—देवि ! मेरे प्रति इतनी घृणा क्यों कर रही हो ? मैं क्या नितान्त तुम्हारे अयोग्य हूँ ? इतने राज्य और देशों को मैंने जीता, परन्तु क्या प्रार्थना करने पर भी तुम्हारा यह हृदय मुझको नहीं मिल सकता ?

इला—मेरा हृदय तो अब मेरा नहीं है। विदाई के समय जिसे अपना समस्त हृदय सौंप दिया था वही उसे लेकर चला गया है, पर वह इसी उपवन में मिलने को कह गया है। बहुत दिन बीत गये पर वह अभी तक नहीं आया। यह उपवन अच्छा नहीं लगता, पर यह सोचकर कि कहीं वह आकर बिना मुझे देखे लौट न जाय। रात-दिन उसीकी बाट जोहा करती हूँ। महाराज मुझे कहाँ ले जाओगे ! जो यहाँ मुझे छोड़ गया है उसीके लिये मुझे यहाँ छोड़ जाओ।

विक्रम—वह भाग्यशाली पुरुष कौन है ? सावधान ! अगाध असीम प्रेम को ईश्वर देख नहीं सकता। किसी समय मैं भी इस संसार को तुच्छ समझ कर केवल प्रेम ही करता था। पर उस प्रेम को ईश्वर सह नहीं सका। उस प्रेम रूपी निद्रा से जागकर देखा कि संसार तो वैसे ही चल रहा है पर

मेरा प्रेम चूर्ण हो गया है। अच्छा बताओ, जिसके लिये तुम बैठी हो उस भाग्यवान का नाम क्या है?

इला—काश्मीर के युवराज—कुमारसेन।

विक्रम—कुमार!

इला—क्या आप उन्हें जानते हैं? भला उन्हें कौन नहीं जानता! काश्मीर की सब प्रजा उनको प्राणों से भी बढ़ कर चाहती है।

विक्रम—कुमार! काश्मीर के युवराज!

इला—हाँ महाराज। वही उनका यश चारो ओर फैल रहा है। क्या आपके भी वह मित्र हैं? वह महान पुरुष हैं। पृथ्वी के योग्य अधिपति हैं।

विक्रम—उसका सौभाग्य-सूर्य्य अस्त हो गया, उसकी आशा अब छोड़ दो। आखेट के मृग की तरह वह आज भाग रहा है। उसके लिये आज कहीं आश्रय-स्थान नहीं है। वने जंगलों में वह छिपा है, उससे तो इस काश्मीर का दीन भिक्षुक भी अधिक सुखी है।

इला—क्या कहते हो महाराज!

विक्रम—तुम लोग पृथ्वी के एक कोने में बैठी हुई केवल प्रेम किया करती हो, पर यह नहीं जानती कि बाहर विश्व-संसार गरज रहा है। अश्रुपूर्ण विशाल आँखों से तुम लोग देखा करती हो, पर यह नहीं जानती कि कर्मस्रोत में न जाने कौन कहाँ वहा जा रहा है। अब उसकी आशा व्यर्थ है।

इला—महाराज सच कहो। मुझसे छल न करो। इस क्षुद्र रमणी का प्राण उसी के सहारे बँधा है। उसी की बाट है। बताओ किस निर्जन राह में किस घोर वन में मेरा

कुमार घूम रहा है? मैं वहाँ जाऊँगी। मै घर छोड़कर कहीं नहीं गई हूँ, मुझे किस ओर किस राह से जाना होगा?

विक्रम--वह विद्रोही है, राजसैन्य उसकी खोज में लगी है।

इला--तब क्या तुम उनके मित्र नहीं हो? तुम लोग क्या उसकी रक्षा नहीं करोगे? राजपुत्र वन में मारे मारे फिर रहे हैं और तुम राजा होकर उनकी यह दशा चुपचाप देखते रहोगे? क्या तुम लोगो को इतनी दया भी नहीं है? प्रियतम, प्रियतम! मैं तो नहीं जानती थी कि तुम संकट में पड़े हो, मै तो यहाँ तुम्हारा आसरा देख रही थी। बहुत विलम्ब होने से बिजली की चमक की तरह मन में सन्देह होता था। मैं सुनती थी कि तुम्हें बहुत लोग प्यार करते हैं, परन्तु आज विपत्ति के समय वे कहाँ हैं? महाराज, आप तो पृथ्वी के राजा हैं क्या आप असहायों के कोई नहीं हैं, क्या इतनी सेना, इतना यश, इतनी शक्ति लेकर आप चुपचाप बैठे रहेंगे? अच्छा, तब रास्ता बता दीजिये. मैं अकेली अबला उसके लिये जीवन-समर्पण करूँगी।

विक्रम--आह! कैसा प्रबल और अगाध प्रेम है। प्रेम करो! प्रेम करो!! ऐसे ही प्रबल वेग से प्रेम करती रहो। जो तुम्हारे हृदय का राजा है केवल उसीके साथ प्रेम करो। यद्यपि मैं प्रेम-स्वर्ग से भ्रष्ट हूँ पर तुम्हारा पवित्र प्रेम देखकर अपने को धन्य समझता हूँ। देवि! मैं तुम्हारा प्रेम छीनना नहीं चाहता। मूर्ख वृक्ष पर अन्य वृक्षों से फूल झरते हैं, पर अन्य वृक्षों के फूलों को तोड़ कर उसे कोई कैसे सजा सकता है? मेरा विश्वास करो. मैं तुम्हारा बन्धु हूँ। चलो मेरे साथ, मैं

उससे तुम्हें मिला दूँगा। कुमार को काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठा कर कुमारी मैं तुम्हें उन्हें सौंप दूँगा।

इला—महाराज, आपने मुझे प्राण-दान दिया है। जहाँ कहिये मैं चलने के लिये तैयार हूँ।

विक्रम—काश्मीर चलना होगा, शीघ्र तैयार हो आओ।

(इला और सखियों का प्रस्थान)

युद्ध अब अच्छा नहीं लगता। पर शान्ति तो उससे भी अधिक बुरी लगती है। मुझसे तो वे गृहहीन पलातक भी सुखी हैं क्योंकि वे संसार में जहाँ जाते हैं वहीं रमणी का सच्चा प्रेम देवताओं की कृपा की भाँति उनके साथ साथ रहता है। उस कृपाके पवित्र किरणों से विपत्तिका बादल भी सोने की तरह चमक उठता है। मैं अब किस सुख से देश-देशान्तरों में भटक रहा हूँ। यद्यपि मेरे हाथों में जय-ध्वजा है, पर हृदय तो हिंसा और अभिशाप से जल रहा है। यदि कहीं किसी के स्निग्ध हृदय रूपी सरोवर में शुभ्र ओस से शीतल प्रेम-रूपी कमल खिल रहा हो, तो उसे देखकर हृदय की ज्वाला मिटाऊं। हे सुन्दरी, प्रेममयी अपने पवित्र अश्रुजल से मेरा यह रक्त से भरा हुआ कलुषित हाथ धो दो।

(पहरेदार का प्रवेश)

पहरे—महाराज, देवदत्त आये हैं, आप के दर्शन के लिये बाहर खड़े हैं।

विक्रम—उन्हें यहाँ ले आओ।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव—दुहाई है महाराज! इस दीन ब्राह्मण की रक्षा कीजिये।

विक्रम—यह क्या! तुम यहाँ कहाँ से आ गये? जान

पड़ता है ईश्वर अब मेरे ऊपर अनुकूल है। बन्धु, तुम मेरे एक रत्न हो।

देव—ठीक है, महाराज मैं आप का रत्न ही हूँ, इसी से तो आपने मुझे बड़े यत्न से बन्द कर रक्खा था। सौभाग्य से द्वार खुला देखकर भाग आया हूँ पर महाराज अब मुझे रत्न के धोखे कहीं फिर पहरेदारों के हाथ सौंप न दीजियेगा। क्योंकि मैं केवल आपका बन्धु रत्न नहीं हूँ अपने ब्राह्मणी का स्वामी रत्न भी हूँ। हा, वह क्या अब तक जीवित होगी!

विक्रम—यह क्या बात है? मुझे तो यह कुछ भी नहीं मालूम था कि तुम इतने दिनों से कैद हो?

देव—महाराज! आप क्या जानेंगे आप के दोनों पहरेदार जानते हैं। कितने शास्त्र, कितनी कविता उनको सुनाता था पर उन्हें सुनकर वे दोनों मूर्ख केवल हँसते थे। एक दिन वर्षाकाल में विरह से व्याकुल होकर मेघदूत काव्य दोनों को सुना रहा था, उसे सुनकर दोनों गँवार नींद से सो गये। उसी समय कारागार से भाग कर यहाँ चला आया हूँ। महाराज! इसमें सन्देह नहीं कि आपने खूब चुन चुनकर उन दो आदमियों को पहरे पर रक्खा था। आपके पास इतने मनुष्य हैं, शास्त्र समझने वाले क्या ऐसे दो आदमी आपके पास नहीं थे?

विक्रम—मित्र, जिसने तुम्हें कैद कर रक्खा था वह निश्चय कर हृदय जयसेन है। उसने तुम्हें घोर कष्ट दिया है मैं उसे अवश्य कठोर दण्ड दूँगा।

देव—महाराज, दण्ड पीछे देना, इस समय युद्ध बन्द करके अपने राज्य में चलिये। मैं सच कहता हूँ, महाराज, विरह साधारण पीड़ा नहीं है, पहिले मैं समझता था कि केवल छोटे लोग ही विरह से व्याकुल होते हैं, पर इस बार तो मैं जान-

गया कि इस गरीव ब्राह्मण को भी कामदेव नहीं छोड़ता। उसकी दृष्टि में सभी बरावर हैं। वह छोटे और बडे का विचार नहीं करता।

विक्रम—यम और प्रेम, इन दोनो ही की सब जीवों पर समदृष्टि है। चलो मित्र अपने राज को लौट चलें। केवल चलने के पहिले एक काम कर लेना है, उसका भार मैं तुम्हीं को देता हूँ। वन में कुमारसेन छिपे हैं, त्रिचूडराज से उसका पता तुम्हें मिल जायगा। मित्र उनसे मिलकर कह दो कि मैं अब उनका शत्रु नहीं हूँ। शस्त्र फेंककर प्रेम से केवल उन्हें वन्दी करना चाहता हूँ। हाँ सखे, और भी कोई यदि वहाँ हो—यदि और भी कोई वहाँ तुम्हें दिखाई पड़े...

देव—जानता हूँ, मैं जानता हूँ। महारानी की भक्ति सदा मेरे हृदय में बनी है, अबतक मैंने कुछ नहीं कहा क्योंकि मुझसे कुछ कहा नहीं जाता। अब उनकी बातें अनिर्वचनीय हो गई हैं। वह सती साध्वी है, इसीसे इतना दुःख उठा रही हैं। उनकी बातें जब सोचता हूँ तो मुझे पुण्यवती जानकीजी की कथा याद आ जाती है। जाता हूँ।

विक्रम—वसन्त ऋतु आने के पहिले ही दक्षिणी हवा चलने लगती है। उसके उपरान्त नये फूल और पत्तो से वन लक्ष्मी सुशोभित हो जाती है। तुमको देखकर मुझे आशा होती है कि मेरे वही पुराने दिन अपने सब सुखो के साथ लौट आवेंगे।

अष्टम दृश्य

जंगल

कुमारसेन के दो अनुचर

पहिला—देख रे मोहन, कल मैंने जो सपनो देखा है उसका कुछ मतलब समझ में नहीं आता। आज शहर में जाकर ज्योतिषीजी से उसका फल पूछ आना होगा।

दूसरा—क्या सपना देखा है, जरा बता तो सही, मैं भी सुनूं।

पहिला—एक महापुरुष जल से निकलकर मुझको तीन बड़े बड़े बेल देने लगे। मैंने दोनो हाथों में दो बेल तो ले लिये, पर एक बेल कैसे लूं यह सोचने लगा।

दूसरा—तू भी कैसा मूर्ख है, अरे तीनों ही बेल को दुपट्टे में क्यों नहीं बांध लिया?

पहिला—जागने पर तो सभी को अक्ल सूझने लगती है, पर उस समय तू कहाँ था? हाँ उसके बाद क्या हुआ, सो तो सुन, पर एक बेल जमीन पर गिर कर लुढकने लगा और मैं भी उसके लेने के लिये दौडा। थोडी दूर जाकर क्या देखता हूँ कि युवराज पीपल के पेड के नीचे बैठकर सन्ध्या कर रहे हैं, और बेल भी उनकी गोद में जाकर उछल पडा। बस मेरी नींद खुल गई।

दूसरा—अरे तू इसका मतलब नहीं समझ सका! युवराज शीघ्र ही राजा होंगे।

पहिला—मैं भी तो यही सोचता हूँ। पर मैंने जो दो बेल पाये हैं इससे मेरा क्या होगा?

दूसरा--तेरा क्या होगा ? तेरे खेत में इस वर्ष वगन कुछ अधिक फलेगा । और क्या ।

पहिला--नहीं जी, मैं तो समझता हूँ कि मुझे दो लड़के होंगे ।

दूसरा--हाँ, कल एक बड़े ही अचरज की बात हो गई है, सुनकर तुझे विश्वास नहीं होगा। उस नदी के किनारे हम और रामचरण चिउड़ा भिगाकर खा रहे थे कि मैंने बातो ही बातो में कह दिया कि हमारे ज्योतिषीजी ने विचार कर कहा है कि युवराज की ग्रहदशा अब दूर हो चली है । अब देर नहीं है, शीघ्र ही वह राजा होंगे । अचानक ऊपर से न जाने कौन बोल उठा, "ठीक, ठीक, ठीक" ऊपर देखा तो गुलर के पेड़ पर इतनी बड़ी (हाथ से बताते है) एक छिपकली दिखाई पड़ी ।

(रामचरण का प्रवेश)

पहिला--क्या खबर है, रामचरण ?

राम--अरे आज एक ब्राह्मण उस जगल में इधर उधर युवराज को खोजता हुआ घूम रहा था । उसने मुझसे घुमा फिराकर कितनी ही बातें पूछीं । पर मैं क्या मूर्ख हूँ ? मैं भी उसे हेर-फेर के जवाब देने लगा । बहुत छानबीन करके अन्त में वह चला गया । मैने उसे चित्तल गाँव की राह बता दी। यदि वह ब्राह्मण न होता तो मै आज उसे जीता न छोड़ता ।

दूसरा--पर अब तो इस गाँव को भी छोडना पड़ेगा । दुष्टों ने इसका पता भी लगा लिया है ।

पहिला--यहीं बैठ न जाओ, रामचरण । कुछ बात चीत

राम- युवराज के सहित हमारी राजकुमारी इधर ही आ रही हैं, चलो हमलोग जरा हटकर बैठें।

(प्रस्थान)

(कुमारसेन और सुमित्रा का प्रवेश)

कुमार—शंकर को उनलोगों ने पकड़ लिया है। राज का समाचार लेने के लिये बिचारा वृद्ध स्वयं छद्मवेश धरकर गया था। शत्रु उसे पकड कर जयसेन के पास ले गये हैं। सुना है कि मेरा पता जानने के लिये उसके ऊपर घोर अत्याचार हो रहा है, पर तो भी वह अटल है। मेरे सम्बन्ध में उसके मुंह से ये लोग एक शब्द भी नहीं कहला सके हैं।

सुमित्रा—हा! वृद्ध प्रभु-भक्त! प्राण से भी बढ़कर तुम जिस कुमार को प्यार करते हो उसी के कामों के लिये अपने प्राणों को तुमने अर्पण कर दिया।

कुमार—इस संसार में वह मेरा सबसे बढ़कर हितैषी है। वह मेरा आजन्म का सखा है। अपना प्राण देकर भी वह मुझे निरापद रखना चाहता है। वह अत्यन्त वृद्ध है, उसकी देह दुर्बल और जीर्ण हो गई है। यहाँ मैं तो सुख से छिपा बैठा हूं, पर हा! वहां वह इतनी यन्त्रणा कैसे सहता होगा?

सुमित्रा—भाई मैं जाती हूँ, भिखारिणी के वेश में जाकर राजा से शंकर के प्राणों की भिक्षा माँग लाती हूँ।

कुमार—बाहर ही से वे लोग फिर तुमको लौटा देंगे। तुम्हारे पिता के राज्य का अपमान होगा, तुम्हारे स्वर्गीय बाप दादों का सिर नीचा हो जायगा। इस अपमान की चोट वज्र की तरह मेरे हृदय में लगेगी।

(गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—कलरात को जयसेन ने गीधकूट जला दिया है। गृह-हीन ग्रामवासियों ने आज मन्दूरा के जगल में आश्रय लिया है।

(प्रस्थान)

कुमार—अब तो सहा नहीं जाता, सहस्रों मनुष्यों का जीवन नष्ट करके अपने इस घृणित जीवन को कैसे धारण करूँ !

सुमित्रा—चलो, हम दोनों जने राज सभा में चलें, देखें किस साहस से कौन वहाँ तुम्हारा बाल बाँका कर सकता है ?

कुमार—शंकर कहता था—यदि प्राण चले जायँ तो भी बन्दी की तरह कभी जाकर दीनता न दिखाना। बाप दादों के राज-सिंहासन पर बैठकर विदेशी राजा न्याय का बहाना करके मुझे दण्ड देगा, यह क्या कभी सहन हो सकता है ? बहिन, अब मैं बहुत सह चुका, अब उसपर से पितृपुरुषों का अपमान भला कैसे सहूँ ?

सुमित्रा—इससे तो मृत्यु ही अच्छी।

कुमार—कहो बहिन, कहो, इससे तो मृत्यु ही अच्छी। यही तो तुम्हारे योग्य बात है, इससे तो मृत्यु ही अच्छी। भली प्रकार विचार कर देख लो। इस प्रकार का जीवन केवल भीरुता है। क्या यह सच नहीं है ? चुप क्यों हो, बहिन ! विषाद से झुकी हुई आँखों से धरती की ओर न देखो। मेरी ओर देखो। देखो, इस घृणित जीवन के लिये छिपे-छिपे रात दिन मृतक बने रहना क्या मेरे लिये उचित है ?

सुमित्रा—भाई—

कुमार—मैं राजपुत्र हूँ, मेरी स्वर्णमयी काश्मीर धूल में रही है। गृह-हीन प्रजा जंगलों में मारी-मारी फिर रही

है, पति और पुत्र के शोक से काश्मीर की स्त्रियाँ रो रही हैं क्या तो भी मुझे किसी प्रकार छिप कर बचे रहना उचित है?

सुमित्रा—इससे तो मृत्यु ही अच्छी।

कुमार—कहो, बहिन कहो। मेरे भक्त, जो मुझे प्राणो से भी बढ़कर प्यार करते हैं और जो प्रति दिन कठोर यन्त्रणा सहकर अपने प्राणों को मेरे लिये निछावर कर रहे हैं, क्या उनके पीछे छिपकर अपने प्राण बचाना मुझे उचित है, क्या यह वास्तव में जीना है?

सुमित्रा—इससे तो मरना ही अच्छा।

कुमार—सुनकर मेरा चित्त शान्त हुआ। बहिन, तुम्हारे ही लिये अब तक किसी प्रकार प्रत्येक निश्वास में निर्दोषियों के प्राण-वायु का शोषण करके मैं अपने इस घृणित जीवन की रक्षा कर रहा था। अब मेरे पैरों को छूकर शपथ करो कि जो मैं कहूँगा चाहे वह कितना ही कठिन क्यों न हो उसका पालन तुम करोगी।

सुमित्रा—(पैर छूकर) मैं शपथ करती हूँ।

कुमार—मैं अपने इस जीवन को विसर्जित करूँगा। उसके उपरान्त तुम मेरे कटे हुए सिर को लेजाकर अपने ही हाथों से जालन्धर पति को उपहार देकर कहना कि-काश्मीर के तुम अतिथि हो, इसलिये इतने दिनों से तुम जिसे पाने के लिये इतने व्याकुल हो रहे थे, काश्मीर के युवराज ने उसे तुम्हारे पास अतिथि-सत्कार की भेंट के रूप में भेजा है। बहिन चुप क्यों हो? तुम्हारे पैर इस प्रकार काँप क्यों रहे हैं? इस वृक्ष के नीचे बैठ जाओ। क्या तुम इस काम को नहीं कर सकोगी? क्या यह इतना दुस्साध्य है। तब क्या किसी

अनुचर के हाथ यह राज-मस्तक तुच्छ उपहार की भाँति भेजना होगा ? ऐसा करने से समस्त काश्मीर उसे क्रोध से छिन्न-भिन्न कर डालेगा ।

[सुमित्रा का मूर्च्छित होना]

कुमार— छिः छिः बहिन, उठो, उठो ! हृदय पर पत्थर रख लो । व्याकुल न हो । यह काम कठिन है—इसी से तो तुम्हें इसका भार देता हूँ । ऐ प्राणप्यारी बहिन, महज्जनों के अतिरिक्त संसार के इन घोर कष्टों को कौन सहेगा ? बताओ बहिन, क्या तुम इसे कर सकोगी ?

सुमित्रा—जो कुछ तुम कहोगे, करूँगी ।

कुमार—तब अपने हृदय को संभालो, उठो साहस करो । तुच्छ साधारण स्त्रियों की तरह अपने ही दुःख से आप झुक न जाओ ।

सुमित्रा—अभागी इला !

कुमार—उसको क्या मैं नहीं जानता ? इतना अपमान सह कर वह क्या मुझे जीने के लिये कह सकती थी ? वह तो मेरी ध्रुवतारा है, महत मृत्यु की राह वह मुझे दिखा रही है । कल पूर्णिमा है मिलन की रात्रि है । जीवन की ग्लानि से मुक्त होकर चिर मिलन का वेश धारण करूँगा । चलो बहिन, पहिले दूत से कहला भेजूं कि कल मैं राजसभा में आकर आत्म समर्पण करूँगो । ऐसा करने से शंकर मेरा सच्चा सुहृद छुटकारा पा जायगा ।

नौवां दृश्य

काश्मीर की राजसभा

विक्रमदेव और चन्द्रसेन

विक्रम—आर्य्य, आप उदास क्यों हैं ? मैंने तो कुमार को क्षमा कर दिया है।

चन्द्र—तुमने तो उसे क्षमा कर दिया है पर मैंने तो अभी उसका विचार नहीं किया है। वह मेरे निकट विद्रोही है, मैं उसे दण्ड दूंगा।

विक्रम—आपने उसके लिये कौनसा दण्ड देना निश्चय किया है ?

चन्द्र—राजसिंहासन से उसे वञ्चित करूँगा।

विक्रम—यह तो असम्भव है। राजसिंहासन पर मैं उसे ज़रूर बैठाऊँगा।

चन्द्र—काश्मीर की राजगद्दी पर तुम्हारा क्या अधिकार है ?

विक्रम—पर राज्यपर विजेताका अधिकार है।

चन्द्र—तुम यहां बन्धु भाव से अतिथि की तरह ठहरे हो। क्या काश्मीर का राज्य तुमने जय किया है ?

विक्रम—बिना युद्ध के ही काश्मीर ने मुझे आत्म-समर्पण कर दिया है। फिर भी यदि आप युद्ध करना चाहें तो कीजिये मैं तयार हूं। यह राज्य अब मेरा है मैं जिसको चाहूं दे सकता हूं।

पिता के राजसिंहासनको भिक्षा की तरह कभी ले सकता है? यदि उसके साथ प्रेम करोगे तो वह प्रेम करेगा, हिंसा करोगे तो वह प्रतिहिंसा करेगा, भिक्षा दोगे तो वह उसपर घृणा से लात मारेगा।

विक्रम—यदि उसको इतना आत्माभिमान होता तो क्या वह इस प्रकार आत्म-समर्पण करने के लिये स्वयं आ सकता?

चन्द्र—यही तो मै भी सोच रहा हूँ। महाराज, यह कुमारसेन के स्वभाव के अनुकूल काम नहीं जान पडता, वह दर्प से भरा युवा सिंह के समान है। वह क्या आज अपनी ही इच्छा से गले में शृंखला पहिरने के लिये यहाँ आवेगा? जीवन की ममता क्या इतनी प्रबल है?

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी—पालकी का द्वार बन्द करके कुमारसेन आ रहे हैं।

विक्रम—शिविका का द्वार बन्द करके!

चन्द्र—ठीक ही है, वह अपना मुख सब को कैसे देखा सकता है? अपने पिता के राज्य में वह स्वयं बन्दी बन कर आ रहा है। राजपथ में लाखो मनुष्य उसे देखने के लिये उत्सुक होगे। काश्मीर की स्त्रियाँ उसे देखने के लिये झरोखे और अटारियो पर खड़ी होगी। पूर्णिमा का चन्द्र आकाश में उसे देखने के लिये उदित हुआ है। अपने चिरपरिचित हाट-बाट बाग, मन्दिर सरोवर तथा प्रजाओ को वह अपना मुँह कैसे दिखावेगा? महाराज, मैं जो कहता हूँ उसे सुनो, गाना बजाना बन्द कर दो, तो यह उत्सव उसको उपहास सा जान • । आज की यह रोशनी देखकर वह सोचेगा कि रात्रि

को अन्धेरे में मेरी यह लज्जा कहीं ढक न जाय, इसी लिये इतना प्रकाश किया गया है। वह जान जायगा कि यह प्रकाश अपमान-रूपी पिशाच का परिहास है।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव—जय हो राजन्, कुमार को मैंने वन में बहुत खोजा पर कहीं पता नहीं चला। आज सुनता हूँ कि वह स्वयं यहाँ अपनी इच्छा से आ रहे हैं। इसी से लौट आया।

विक्रम—आज राजा की तरह उनकी अभ्यर्थना करूँगा। राज्याभिषेक के समय तुम पुरोहित होगे। आज पूर्णिमा की रात्रि में कुमार के सहित इला का विवाह होगा। उसकी तैयारी मैंने किया है।

(नगर के ब्राह्मणों का प्रवेश)

सब--महाराज जय हो।

प्रथम ब्रा०--आशीर्वाद देता हूँ, आप इस समस्त पृथ्वी के सम्राट हों। लक्ष्मी आप के घर में सदा अचल निवास करें। आज जो आनन्द हम सबको दिया है उसे हम वर्णन नहीं कर सकते। महाराज, काश्मीरवासियो का यह शुभ आशीर्वाद ग्रहण करें।

(राजा के मस्तक पर धान और दूर्वा से आशीर्वाद देते हैं)

(ब्राह्मणों का प्रस्थान)

(लाठी टेकते हुए बड़े कष्ट से शंकर का प्रवेश)

शंकर—(चन्द्रसेन के प्रति) महाराज! यह क्या सत्य है? युवराज क्या स्वयं शत्रु को आत्म-समर्पण करने के लिये आ रहे हैं? बताओ महाराज, यह क्या सत्य है?

चन्द्र—हाँ, सत्य है ।

शंकर—धिक्कार है ! सहस्रों मिथ्या की अपेक्षा भी इस सत्य को धिक्कार है ! हा ! युवराज तुम्हारे इस वृद्ध भृत्य ने इतनी यन्त्रणा क्या इसी लिये सही थी ! इस वृद्धावस्था में मेरी जीर्ण अस्थियाँ चूर्ण हो गईं । तो भी मेरे मुँह से एक शब्द नहीं निकला, परन्तु तुमने अन्त में स्वयं अपनी इच्छा से कैदी का वेश धारण किया । काश्मीर के राजपथ से सिर झुकाकर बन्दीगृह में चले आये । हा, क्या यह तुम्हारे पुरुषाओं की वही राज-सभा है जहाँ तुम्हारे पिता बैठकर पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ राजा कहे जाते थे । आज वही राज-सभा तुम्हारे लिये धूल से भी तुच्छ है । आज इससे निराश्रय पथ, अरण्य की छाया श्रेष्ठ है, पर्वतों की चोटियाँ और मरुभूमि भी राज-सम्पत्ति से परिपूर्ण है। हा तुम्हारा यह भृत्य, तुम्हारा यह अपमान और यह दुर्दिन देखने के पहिले ही क्यो न मर गया ?

विक्रम—अच्छी बातो में से बुरी को ले कर वृद्ध तुम्हारा यह रोना वृथा है ।

शंकर—राजन् ! मै तुम्हारे निकट रोने नहीं आया हूँ । स्वर्गीय राजेन्द्र गणो की आत्मा इस राजसिंहासन के पास शोक और लज्जा से सिर नीचा किये खडी हैं । मेरे हृदय की वेदना वही समझ सकते हैं ।

विक्रम—मुझे अपना शत्रु क्यो समझते हो, मैं तो आज तुम्हारा मित्र हूँ ।

शंकर—जालन्धरपति तुमने बडी दया की कि कुमार को क्षमा कर दिया । परन्तु इस क्षमा से तो दण्ड ही [illegible] था ।

विक्रम—तुम्हारे ऐसा स्वामी भक्त सेवक कोई भी मेरे पास नहीं है।

देव—है महाराज, है।

[बाहर मंगल ध्वनि, शंख-ध्वनि, और कोलाहल]

(शंकर का दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँक लेना)

[प्रहरी का प्रवेश]

प्रहरी—महाराज, द्वार पर शिविका आ गई।

विक्रम—बाजेवाले सब कहाँ हैं, बजाने को कहो, चलो ज़रा आगे बढ़कर अभ्यर्थना करें।

(बाजा बजने लगता है)

[सभा में शिविका का प्रवेश]

विक्रम—(आगे बढ़कर) आओ, आओ, बन्धुवर आओ।

(सोने की थाल में कुमार का सिर लिये हुए सुमित्रा का पालकी के बाहर आना)

(सहसा बाजों का बजना बन्द हो जाता है)

विक्रम—सुमित्रा! सुमित्रा!

चन्द्रसेन—यह क्या! बेटी सुमित्रा!!

ने स्वयं यह भेट भेजी है। तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हो। इस संसार में शान्ति हो, जगत में शान्ति हो। यह नरक की आग बुझ जाय और तुम सुखी हो। (उच्च स्वर से) माता, भगवती! जगतजननी! इस दासी को अपने गोद में स्थान दो।

(गिरना और मृत्यु)

[दौड़कर इला का प्रवेश]

इला—यह क्या, यह क्या, महाराज, मेरा कुमार—

(मूर्च्छा)

शंकर—(आगे बढ़कर) प्रभो! स्वामी! वत्स! प्राणाधिक! वृद्ध के जीवन-धन! तुम्हारे लिये यही उचित था, यही उचित था।तुमने आज जो राजमुकुट धारण किया है, उससे बढ़कर संसार में और कोई दूसरा मुकुट नहीं है। आज तुम राजाधिराज होकर अपने राजसिंहासन पर आये हो। मृत्यु की अमर किरणों से अपने ललाट को तुमने उज्ज्वल किया है। अब तक इस वृद्ध को ईश्वर ने तुम्हारी इसी महिमा को देखने के ही लिये जीवित रखा था। तुम पुण्य-धाम में चले गये, मैं भी तुम्हारा आजन्म का भृत्य तुम्हारी सेवा करने वहाँ आता हूँ।

चन्द्रसेन—(मस्तक से मुकुट पृथ्वी पर फेंक कर) धिक्कार है इस मुकुट को! धिक्कार है इस सिंहासन को!

(सिंहासन पर लात मारना)

[रेवती का प्रवेश]

चन्द्र—राक्षसी पिशाची दूर हो, दूर हो। पापिन मुझे अपना मुँह न दिखा।

रेवती—यह क्रोध सदा न रहेगा।

(रेवती का प्रस्थान)

विमल—(घुटने टेककर सुमित्रा से) देवि! मैं तुम्हारे प्रेम के योग्य नहीं हूँ, क्या इसी से क्षमा भी नहीं किया? सदा के लिये मुझे अपराधी बना गई? इस जन्म में नित्य आँसू बहाकर तुमसे क्षमा माँग लेना, पर उसका भी अवकाश मुझे नहीं दिया? देव प्रतिमा की तरह तुम विशाल और निठुर हो, तुम्हारा दण्ड अमोघ है। तुम्हारा विधान कठिन है।

॥ समाप्त ॥

एक रुपये में ५१२ पृष्ठ

स्थायी ग्राहकोंकी आवश्यकता

है, इसलिये कि दूकानदार—छोटे बड़े, प्रसिद्ध अप्रसिद्ध प्रायः सभी—हमसे अधिकसे अधिक कमीशन चाहते हैं, साधारण कमीशनपर वेचनेको तैयार नहीं है। इसलिये आपसे निवेदन है कि आप इस मालाके स्थाई ग्राहक अवश्य बनें। पर्याप्त ग्राहक होनेपर हम पुस्तकोंका मूल्य और भी कम रखसकेंगे।

अभी भी हमारी मालाकी प्रत्येक पुस्तकोंका मूल्य, एक रुपये में ५१२ पृष्ठके हिसाब से होता है। कागज, मोटा पेन्टिक।

मालामें मौलिक ग्रन्थ भी रहेंगे पर मूल्य ऊपरके ही हिसाबसे होगा।

सस्ती—साहित्य—पुस्तकमाला का नियम

१—एक रुपया प्रवेश शुल्क देकर प्रत्येक सज्जन स्थायी ग्राहक बन सकते हैं। यह कभी भी लौटाया नहीं जाता।

२—स्थायी ग्राहकोंको मालाकी प्रत्येक पुस्तको की एक एक प्रति पौने मूल्यमें मिलेगी।

३—मालाके प्रत्येक पुस्तकोंके लेने न लेनेका अधिकार ग्राहकोंको होगा। इसमें हमारा किसी तरहका बन्धन नहीं है।

४—पुस्तकोंके प्रकाशित होनेपर उसके मूल्य आदि की सूचना ग्राहकोंको दे दी जायगी। और उसके १५ दिन बाद पुस्तक वी० पी० से भेज दी जायगी।

५—जिन लोगोंको जो पुस्तक न लेना हो वह सूचना पाते ही उत्तर दें। जिसमें वी० पी० न भेजी जाय। वी० पी० वापस कर देने पर उनका नाम ग्राहक श्रेणीसे पृथक कर दिया जायगा। यदि वे पुनः नाम लिखाना चाहेंगे तो वे वी० पी० का खर्च दे कर लिखा सकेंगे।

पता—सस्ती साहित्य-पुस्तक-माला-कार्य्यालय,
बनारस सिटी।

हिन्दी-साहित्योन्नति के लिये

प्रयत्न करना

प्रत्येक साहित्य-सेवी का

कर्त्तव्य है

अतः अधिक नहीं केवल स्थायी ग्राहक ही
बनकर इस कार्यमें हमारी सहायता
करें यही प्रार्थना है। स्थायी ग्राहक
बनजाने से आपको भी
विशेष लाभ होगा।

नियम पृष्ठ पर देखिये

[illegible] द्वारा
हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, काशी में मुद्रित

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

स्थायी ग्राहकों के लिए नियम

(१) प्रवेश-शुल्क बारह आने मात्र देना पड़ता है।

(२) स्थायी ग्राहकोंको इस कार्यालय के समस्त, पूर्व प्रकाशित तथा आगे प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थों की एक एक २ प्रति पौने मूल्य में दी जायगी।

(३) किसी भी पुस्तकका लेना अथवा न लेना ग्राहकोंकी इच्छापर निर्भर है। इसके लिये कोई बन्धन नहीं है। किन्तु वर्षभर में कमसे कम ३) तीन रुपये (पूरे मूल्य) की पुस्तक अवश्य लेनी पड़ती है।

(४) पुस्तक प्रकाशित होते ही उसके मूल्यादि की सूचना भेज दी जाती है, और उसके १५ दिवस पश्चात् उसकी वी. पी. भेजी जाती है। यदि किसी सज्जन को कोई पुस्तक न लेना हो तो पत्र पाते ही सूचना देनी चाहिये। वी. पी. लौटाने से डाक-व्यय उन्हींको देना पड़ेगा, अन्यथा उनका नाम स्थायी ग्राहकों की श्रेणीसे पृथक् कर दिया जायगा।

(५) ग्राहकोंके इच्छानुसार डाक-व्यय के बचाव के लिए ३-४ पुस्तकें एक साथ भी भेजी जा सकती हैं।

(६) ग्राहकोंको प्रत्येक पत्र में अपना ग्राहक-नम्बर, पता इत्यादि स्पष्ट लिखना चाहिए।

साहित्य-सेवा-सदन, काशी

द्वारा प्रकाशित
पुस्तकों का सूचीपत्र

काव्य-ग्रन्थ-रत्नमाला—प्रथम रत्न—

बिहारी-सतसई सटीक

(७०० सातों सौ दोहों की पूरी टीका)

यह वही पुस्तक है कि जिसके कारण कविकुल-कुमुदकलाधर बिहारीलाल की विमल ख्याति-राका साहित्य-संसार के कोने कोने में अजरामरवत् फैली हुई है और जिसकी कि केवल समालोचना ने ही विद्वन्मण्डली में हलचल मचा दिया है। सच पूछिये तो शृङ्गाररस में इसके जोड़ की कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं है। यह अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि लगभग २५० वर्षों में ही इस ग्रन्थ की १५-१६ टीकायें बन चुकी हैं। इतनी टीकायें तो तैयार हुई हैं, किन्तु वे सभी प्राचीन ढंग की हैं। इसी लिये समझ में जरा कम आती हैं। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये साहित्य-संसार के सुपरिचित कविवर लाला भगवानदीन जी, प्रो० हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी ने अर्वाचीन ढंग की नवीन टीका तैयार की है। टीका कैसी होगी, इसका अनुमान पाठक टीकाकार के नाम से ही करलें। इसमें बिहारी के प्रत्येक दोहे के नीचे क्रमशः शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, वचन-निरूपण, अलंकार आदि सभी ज्ञातव्य बातों का समावेश किया गया है। स्थान-स्थान पर कवि के चमत्कार का दिग्दर्शन कराया गया है। जगह जगह पर सूचनायें दी गई हैं। मतलब यह कि सभी जरूरी बातें इस टीका में आ गई हैं। इसका [illegible] सजिल्द का मूल्य १।=), बढ़िया कागज सजिल्द का मूल्य [illegible]

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला—द्वितीय रत्न—

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव

लेखक—श्रीयुत देवी प्रसाद 'प्रीतम्'। यह वही पुस्तक है जिसकी बाट हिन्दी संसार बहुत दिनों से जोह रहा था और जिसके शीघ्र-प्रकाशन के लिये तक़ाजे पर तक़ाज़े आते रहे। पुस्तक की प्रशंसा का भार काव्य-मर्मज्ञों के ही न्याय और परख पर छोड़ कर इसके परिचय में हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि यह ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्ण की जन्म सम्बन्धिनी पौराणिक कथाओं का एक खासा दर्पण है। घटना-क्रम, वर्णन-शैली तथा विषय-प्रतिपादन में लेखक ने कमाल किया है। तिस पर भी विशेषता यह है कि कविता की भाषा इतनी सरल है कि एकबार आद्योपान्त पढ़ने से सभी घटनायें हृदय-पलटपर अङ्कित हो जाती हैं। साहित्य-मर्मज्ञों के लिए स्थान-स्थान पर अलङ्कारों की छटा की भी कमी नहीं है। मुख पृष्ठ पर एक चित्र भी है। मूल्य केवल ।~) एँटीक कागज़ के संस्करण का ।ø)

काव्य-ग्रन्थ-रत्न-माला—चतुर्थ रत्न—

केशव-कौमुदी

(रामचन्द्रिका सटीक)

हिन्दी के महाकवि आचार्य केशव की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक रामचन्द्रिका का परिचय देना तो व्यर्थ ही है। क्योंकि शायद ही हिन्दी का कोई ऐसा ज्ञाता होगा जो इस ग्रन्थ के नाम से अपरिचित हो। अत. केशव की यह पुस्तक जितनी ही उत्तम तथा उपयोगी है उतनी ही कठिन भी है। अर्थ-कठिनता में केशव की काव्यप्रतिभा उसी प्रकार छिपी पड़ी हुई है जिस प्रकार रुई के ढेर में हीरे की कान्ति। केशव की इसी काव्य-प्रतिभा को प्रकाश में लाने के लिए यह सम्मेलनादि में पाठ्य पुस्तक नियत की गई है। परीक्षार्थियों को इसका अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। पर, पुस्तक की कठिनता के आगे इनका कोई वश नहीं चलता। उन्हें लाचार होकर हिन्दी धुरंधरों के पास दौड़ना पड़ता है। किन्तु वहां से भी "भाई इसका अर्थ बताने में असमर्थ हैं" का उत्तर पाकर बेरङ्ग लौटना पड़ता

हैं। अतएव इन्हीं कठिनाई को दूर करने तथा उनके अध्ययन मार्ग को सुगमतर बनाने के लिए यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक में रामचन्द्रिका के मूल छन्दों के नीचे उनके शब्दार्थ, भावार्थ विशेषार्थ, नोट, अलंकारादि दिये गये हैं। यथा स्थान कविके चमत्कार निदर्शन के साथ ही साथ काव्य गुण दोषों की पूर्ण रूप से विवेचना की गई है। छन्दों के नाम तथा अप्रचलित छन्दों के लक्षण भी दिये गये हैं। पाठ भी कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर संशोधित किया गया है। इन सब विशेषताओं से बढ़ कर एक विशेषता यह है कि इसके टीकाकार हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर लाला भगवानदीन जी हैं। पुस्तक परीक्षार्थी सज्जनों के भी देखने योग्य है। यह पुस्तक दो भागों में समाप्त हुई है। लगभग साढ़े पाच सौ पृष्ठों के प्रथम भाग का जिसमें रंग बिरंगे चित्र भी हैं ३।।।), सजिल्द ४)। द्वितीय भाग का २।), सजिल्द २।।)

काव्य–ग्रन्थ–रत्नमाला-पांचवां रत्न

रहिमन-विलास

यों तो रहीम की कविताओं का संग्रह कई स्थानों से प्रकाशित हो चुका है, किंतु हमारे इस संग्रह में कई विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं के कारण इस पुस्तक का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। इसका पाठ भी बड़े परिश्रम से संशोधित किया गया है। अभी तक ऐसा अच्छा और इतना बड़ा संग्रह कहीं से भी प्रकाशित नहीं हुआ है। यह पुस्तक बड़ी ही उपादेय है। हमारा अनुरोध है कि एक बार अवश्य देखिये। दूसरा संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण छप रहा है।

काव्य-ग्रन्थ-रत्न माला-छठां रत्न

गो० तुलसीदासजी कृत

विनय-पत्रिका सटीक

(टीकाकार—वियोगीहरि)

सर्वमान्य 'रामायण' के प्रणेता महात्मा तुलसीदास जी का

नाम भला कौन नहीं जानता ? बड़े से बडे राजमहलोसे लेकर छोटे से छोटे झोपड़ो तक में गोस्वामीजी की विमल कीर्ति की चर्चा होती है। क्या राव क्या रंक, क्या बालक क्या वृद्ध, क्या मर्द क्या औरत सभी उनके रामायण का पाठ प्रतिदिन करते है, अङ्गरेजी-साहित्य में जो पद शेक्सपियर का है, जो पद संस्कृत-साहित्य में कालिदास का है वह पद हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास को प्राप्त है। उपर्युक्त 'विनयपत्रिका' भी इन्हीं गोस्वामी तुलसीदासजी की कृति है। कहते है कि गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ रचना यही विनय-पत्रिका है। विनय-पत्रिका का सा भक्ति-ज्ञान का दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। इसमे गोस्वामी जी ने अपना सारा पाण्डित्य खर्च कर दिया है। इसकी रचना में उन्होने अपनी लेखनी का अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। गणेश, शिव, हनुमान, भरत, लक्ष्मण आदि पार्षदो सहित जगदीश श्रीरामचन्द्र की स्तुति के बहाने,वेदान्त के गूढ तत्वों का समावेश कर दिया है। वेद, पुराण, उपनिषद्, गीतादि में वर्णित ज्ञान की सभी बातें इसमें गागर में सागर की भांति भर दी गई है। यह भक्ति-ज्ञानका अपूर्व ग्रन्थ है। साहित्य की दृष्टि से भी यह उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इतना सब कुछ होने पर भी इसका प्रचार रामायण के सदृश न होने का एक यही मुख्य कारण है कि यह पुस्तक भाषा में होने पर भी, कठिन है। दूसरे वेदान्त के गूढ रहस्यो को समझ लेना भी सब किसी का काम नहीं। तीसरे अभी तक कोई सरल, सुबोध्य तथा उत्तम टीका भी इस ग्रन्थ पर नहीं बनी। इन्हीं कठिनाइयो को दूर करने के लिये सम्मेलन पत्रिका के सम्पादक तथा साहित्य-विहार, ब्रजमाधुरीसार, संक्षिप्त सूरसागर आदि ग्रन्थों के लेखक तथा संकलन कर्त्ता लब्ध-प्रतिष्ठ वियोगी हरिजी

पुस्तक की विस्तृत तथा सरल टीका की है। वियोगी

जी साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं यह सभी जानते हैं। अतः उनका परिचय देने की आवश्यकता भी नहीं है। इस टीका में शब्दार्थ, भावार्थ, विशेषार्थ, प्रसंग, पदच्छेद आदि सब ही कुछ दिये गये हैं। भावार्थ के नीचे टिप्पणी में अन्तर कथाएं, अलङ्कार, शंका-समाधान आदि के साथ ही साथ समानार्थी हिन्दी तथा संस्कृत कवियों के अवतरण भी दिये गये हैं। अर्थ तथा प्रसंगपुष्टि के लिए गीता, वाल्मीकि रामायण तथा भागवत आदि पुराणों के श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। दार्शनिक भाव तो खूब ही समझाये गये हैं। उपर्युक्त बातों के समावेश के कारण यह पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय हुई है। अब मूढ़ से मूढ़ जन भी भगवद्-नामामृत का पान कर मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। हिन्दी-साहित्य में यह टीका कितने महत्त्व की हुई है यह उदारचेता, काव्य कला-मर्मज्ञ एवं नीर-क्षीर-विवेकी साहित्यज्ञ ही बतला सकते हैं। तुलसी-काव्य सुधा-पिपासु सज्जनों से हमारा आग्रह है कि एक प्रति इसकी खरीद कर गुसाईं जी की रसमयी वाणी का वह आनन्द अवश्य लें जिससे अभी तक वे वंचित रहे हैं। छपाई-सफाई भी दर्शनीय है। मनोमोहक जिल्द बंधी हुई लगभग ७०० सात सौ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य २॥) ढाई रुपये। सजिल्द २॥।)। बढ़िया कपड़े की जिल्द का ३)।

काव्य-ग्रन्थरत्न-माला-सातवां रत्न

गुलदस्तए बिहारी

(लेखक—देवीप्रसाद 'प्रीतम')

बिहारी-सतसई के परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं, सभी साहित्य प्रेमी उसके नाम से परिचित हैं। यह गुलदस्तए बिहारी उसी बिहारी-सतसई के दोहों पर रचे हुए उर्दू शेरों

का संग्रह है, अथवा यों कहिये कि बिहारी-सतसई की उर्दू-पद्य मय टीका है। ये शैर सुनने में जैसे मधुर और चित्ताकर्षक ही हैं वैसे ही भाव-भङ्गी के ख्याल से भी अनुपम है। इनमें दोहो के अनुवाद में, मूल के एक भी भाव छूटने नहीं पाये हैं बल्कि कहीं कहीं उनसे भी अधिक भाव शेरा में आ गये हैं। ये शैर इतने सरल हैं कि मामूली से मामूली हिन्दी जानने वाला उन्हें अच्छी तरह समझ सकता है। इन शैरों की पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं० पद्मसिंह शर्म्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन वियोगीहरि आदि उद्भट विद्वानो ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। अतः विशेष कहना व्यर्थ है।

छपाई में यह क्रम रखा गया है कि ऊपर बिहारी का मूल दोहा देकर नीचे प्रीतमजी रचित उसी दोहे का शैर हिन्दी लिपि में दिया गया है। पुस्तकान्त में दोहों के क्रम से ये शैर उर्दू लिपि में भी छाप दिये गये है। ऐसा करने से हिन्दी तथा उर्दू जानने वाले दोनो ही सज्जनो के लिए यह सामान्य रूप से उपयोगिनी हुई है। पृष्ठ संख्या १७५ के लगभग। मूल्य ॥|=) सचित्र राज संस्करण का १॥) उर्दू सहित का १।) राज सं० २)

काव्य-ग्रन्थ-रत्न-माला-आठवाँ रत्न

भ्रमर गीत

यह भ्रमर-गीत महाकवि सूरदास के सूरसागर में से छाँट कर निकाली गयी है। इसका सम्पादन साहित्य संसार के चिर परिचित एवं दिग्गज विद्वान प० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। पदों के नीचे कठिन शब्दों के सरलार्थ भी दे दिये गये हैं। ...ही प्रारम्भ में एक आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका भी

है। प्रत्येक साहित्य-प्रेमी को एक बार अवश्य देखना चाहिये। पृष्ठ संख्या लगभग २५० मूल्य १) मात्र

महिला । इस पुस्तक में बंगभाषा के रवीन्द्रनाथ ठाकुर, देवेन्द्र कुमार राय, रामानन्द चट्टोपाध्याय आदि धुरन्धर विद्वानो के छोटे छोटे उपन्यासो तथा लेखो का अनुवाद है । कुछ लेख लेखिका के निज के हैं, जो कि समय समय पर सरस्वती में निकल चुके है और जनता द्वारा काफी सम्मानित हो चुके हैं । पुस्तक बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है, खास कर भारतीय महिलाओ के लिये बड़े काम की है । इसे संयुक्त-प्रान्त की गवर्नमेण्टने पुरस्कार पुस्तको तथा पुस्तकालयों (Prize books and Libraries) के लिये स्वीकृत किया है । कुछ स्कूलों में पाठ्य-पुस्तक भी नियत की गई है । और कुछ नहीं, आप केवल निम्नलिखित सम्मतियो को ही देखिये ।

पुस्तक की सुन्दरता में भी किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं की गई है । विविध प्रकार के सात रंग-विरंगे-चित्रो से विभूषित, एँटीक पेपर पर छपी लगभग २२५ पृष्टवाली इस पुस्तक का मूल्य सर्वसाधारण के हितार्थ केवल १॥) रखा गया है ।

पुस्तक पर आई हुई कुछ सम्मतियां—

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने अपने उन्नीसवें वर्ष के कार्य्यविवरण में " कुसुम संग्रह की गणना उत्तम पुस्तकों में करके इसका गौरव बढ़ाया है ।

The book will form an admirable prize Book in girls' school...We repeat that the book will form a nice useful present to females. It is not less interesting to the general reader.

The Modern Review.

The language of the book is excellent and the subjects treated are also very useful.—MAJOR B. D. BASU, I. M. S. (Retired) Editor, the Sacred Books of the Hindu-Series

कहानियाँ और लेख मनोरञ्जक और उत्तम हैं।-बिहार-बन्धु।

निबन्ध सुपाठ्य और उपयोगी हैं। कागज और छपाई भी अच्छी है। —आनन्दमित्र।

कुसुम संग्रह मुझे बहुत पसंद है।—सत्यदेव (परिव्राजक)।

हिन्दी-साहित्य-भण्डार में अनोखी वस्तु है। लेख सबके पढ़ने योग्य बहुत ही रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं। स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी लेख तो बहुत ही उत्तम हैं। —लक्ष्मी।

रचना शैली उत्तम है। पात्रों के चरित्र-चित्रण देखकर खुशी होती है पुस्तक बड़ी उत्तमता से छापी गई है। जासूस।

कुसुम-संग्रह के कुसुम बहुत ही सुन्दर हैं। इन फूलों को साधारण हिन्दी के रसिक पाठकों को अवश्य लेना चाहिये।

—हिन्दी बङ्गवासी।

कुसुम-संग्रह का समालोचना-भार पाकर हम अपने को सचमुच बड़भागी समझते हैं। उनमें से बहुत सी तो मन लुभाने वाली आख्यायिकाएं हैं, बहुत सी स्त्री-शिक्षासम्बन्धी उपदेशमालाएं हैं और बाकी सब विविध विषयों पर हैं।... और अधिक स्तुति हम आवश्यक नहीं समझते। कुसुम-संग्रह में कविता नहीं . पर . प्रत्येक गद्य-पृष्ठ से कविता का मधुर रस चू रहा है। —गृह लक्ष्मी।

अच्छे सामाजिक उपन्यासों के भण्डार की पूर्ति ऐसी ही पुस्तकों से हो सकती है। इसमें ऐसी शिक्षाप्रद आख्यायिकाओं का समावेश है जिनको पढ़कर साधारणतया सभी स्त्रियों के आदर्श उच्च हो सकते हैं और सामाजिक जीवन

प्रशस्त जीवन बन सकता है। स्त्रियों को चाहिये कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन किया करें। भाषा बहुत सरल है, जिससे लेखिका का उद्योग भलीभांति पूर्ण हो गया है। छपाई बहुत ही अच्छी है।

नवजीवन।

भारतेन्दु-स्मारक ग्रन्थ-मालिका-संख्या २

मुद्राराक्षस

भारत-भूषण भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के मुद्राराक्षस का अभी तक कोई शुद्ध तथा विद्यार्थियोपयोगी संस्करण नहीं निकला था जो संस्करण आजकल बाजार में बिक रहा है वह अशुद्ध है। इसीलिये नागरी-प्रचारिणी-सभा के उपमन्त्री जी ने बड़े परिश्रम से इसका पाठ शुद्ध कर तथा विद्यार्थियों के उपकारार्थ आलोचनात्मक भूमिका के साथ ही साथ भरपूर टिप्पणी देकर यह संस्करण निकाला है। इसका संशोधन बा० श्यामसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ट की पुस्तक का मूल्य १)

पुस्तक-भवन द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

पुस्तक-भवन सीरीज संख्या १

एम० ए० बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब की ?

गुजरातीके सुप्रसिद्ध लेखक अमृत केशव नायककी, इसी नामकी पुस्तक का यह अनुवाद है। जिस समय यह गुजराती में निकली थी उस समय बड़ा हलचल मच गया था और इसके कई संस्करण हाथो-हाथ बिक गए थे। हिन्दीमें शिक्षाप्रद के साथ ही साथ रोचक भी हों, ऐसे उपन्यासोंकी बड़ी है। इस पुस्तक में ये दोनों ही गुण हैं। बड़े-बड़े विद्वानों

हिन्दी संसार में हलचल

एक रुपये में ५१२ पृष्ठ

स्थायी ग्राहकों को ६८८

किसी भी साहित्य की उन्नति करने के लिए यह पूर्ण आवश्यक है कि उसमें संसार के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों, लेखकों, कवियों, भगवद्भक्तों की ग्रन्थावलियाँ सस्ती तथा सुलभरूप में निकाली जायँ। इसी उद्देश्य को सामने रख कर प्रकाशक ने निःस्वार्थभाव से सस्ती-साहित्य पुस्तक-माला नाम की एक ग्रन्थमाला निकालना प्रारम्भ किया है। इसमें प्रत्येक ५१२ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य, जिसका कि अन्य प्रकाशक लोग ४-४, ५-५, रुपये अथवा इससे भी अधिक रखते हैं, केवल एक रुपया रक्खा जाता है। आप परीक्षा स्वरूप इसकी किसी भी पुस्तक को लेकर उपर्युक्त बात की जांच कर सकते हैं। यदि आप को इस बात का निश्चय हो जाय कि वास्तव में प्रकाशक ने स्वार्थत्याग किया है और ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता है तो स्वयं इस माला की पुस्तकों को खरीदिये और अपने मित्रों को तथा अन्य परिचित-जनों को इस बात की सूचना देकर खरीदवाइए। आशा है कि आप हिन्दी साहित्य के नाते इस कार्य में प्रकाशक को सहायता देंगे तथा हम को उत्साहित करेंगे।

प्रकाशित पुस्तकें

बांकिम ग्रन्थावली—बंकिम बाबू के आनन्दमठ, लोकरहस्य तथा देवीचौधरानी का अविकल अनुवाद। पृष्ठ संख्या ५१२ मूल्य १) सजिल्द १।) द्वितीयावृत्ति शीघ्र छपेगी।

गोरा—जगद्विख्यात रवीन्द्रनाथ ठाकुर कृत गोरा नामक पुस्तक का अविकल अनुवाद। पृष्ठ संख्या ६८८ मूल्य १।-)॥ सजिल्द १॥≡)

बंकिम-ग्रन्थावली—द्वितीय खंड—बंकिम बाबू के सीताराम और दुर्गेशनन्दिनी का अविकल अनुवाद ॥।-)॥ सजिल्द १≡) पृ० सं० ४३२

बंकिम-ग्रन्थावली—तृतीय खंड—बंकिम बाबू के कृष्णकान्तेर विल, कपाल कुण्डला और रजनी का अविकल अनुवाद, पृ० ४३२ मू० ॥।-)॥ सजिल्द १≡)

चण्डी चरण ग्रन्थावली—प्रथम खंड—अर्थात् टाम काका की कुटिया। पृ० सं० ५९२ मूल्य १=)॥ सजिल्द १॥)

साहित्य-सेवा-सदन, सस्ती—साहित्य पुस्तकमाला तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन परीक्षा तथा हिन्दी की उत्तमोत्तम पुस्तकें मिलने का पता—

पुस्तक-भवन,

बनारस सिटी।